आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
और
हिन्दी आलोचना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
और
हिन्दी आलोचना

डा० रामविलास शर्मा

विनोद पुस्तक मन्दिर
हास्पिटल रोड, आगरा।

भूमिका

हिन्दी साहित्य में शुक्लजी का वही महत्व है जो उपन्यासकार प्रेमचन्द या कवि निराला का। उन्होंने आलोचना के माध्यम से उसी सामन्ती संस्कृति का विरोध किया जिसका उपन्यास और कविता के माध्यम से प्रेमचन्द और निराला ने। शुक्लजी ने न तो भारत के रूढ़िवाद को स्वीकार किया, न पच्छिम के व्यक्तिवाद को। उन्होंने बाह्य जगत् और मानव-जीवन की वास्तविकता के आधार पर नये साहित्य-सिद्धान्तों की स्थापना की और उनके आधार पर सामन्ती साहित्य का विरोध किया और देशभक्ति और जनतन्त्र की साहित्यिक परम्परा का समर्थन किया। उनका यह कार्य हर देशप्रेमी और जनवादी लेखक तथा पाठक के लिए दिलचस्प होना चाहिये। शुक्लजी पर पुस्तक लिखने का यही कारण है।

पिछले वर्षों में शुक्लजी पर तरह-तरह के आक्षेप किये गये थे। इनसे शुक्लजी के बारे में ही नहीं, साहित्य के सहज विकास के बारे में भी भ्रम फैलते थे। इन्हीं के निराकरण के किये नवम्बर सन् ५४ के "नया पथ" में मैंने शुक्लजी पर एक लेख लिखा था जो इस पुस्तक में पहले अध्याय के रूप में दिया गया है। यह लेख पढ़ कर कई लोगों ने शुक्लजी पर एक पुस्तक लिख डालने पर जोर दिया। यह प्रयत्न उन मित्रों के आग्रह का भी फल है।

"नया पथ" का लेख पढ़ कर कुछ विद्वानों को यह काम अनावश्यक सा लगा और उसमें ग़लत खंडन-मंडन भी दिखा। उनकी राय पर मैंने ध्यान नहीं दिया, यह समझने का अवसर क्यों आये? भूमिका में उस राय की थोड़ी चर्चा किये देता हूँ।

"नया पथ" वाले लेख के बारे में उसी पत्र के जनवरी सन् ५५ के अंक में कथाकार यशपाल की राय छपी है। उनकी इस शिकायत से मैं सहमत हूँ कि इतना लम्बा लेख उसमें न छपना चाहिये था। इसके साथ

ही उन्होंने यह भी लिखा है, "साहित्यिक आलोचना और आलोचना की आलोचना तो केवल परीक्षार्थियों के काम की चीज होगी।" परीक्षार्थियों के काम की हो तो बहुत अच्छा है लेकिन सेवा में निवेदन है कि शुक्लजी से हमारे कथाकार और साधारण साहित्यप्रेमी भी बहुत कुछ सीख सकते हैं। शुक्लजी ने एक विशेष प्रकार के साहित्य का विरोध किया है, एक विशेष प्रकार के साहित्य का समर्थन। उस तरह वह हिन्दी पाठकों की साहित्यिक रुचि परिष्कार करने वालों में हैं। उनकी यह विशेषता साधारण साहित्यप्रेमियों के ध्यान देने योग्य है। इसके सिवा शुक्लजी ने उपन्यासों के बारे में कुछ उम्दा सुझाव दिये हैं, बहुत से पात्र और घटनाएं इकट्ठा करने के बदले पात्रों के भरे-पूरे चित्रण और उनके चरित्र-विकास पर जोर दिया है। उन्होंने प्रेमचन्द का आदर्श रखते हुए जनसाधारण के जीवन पर उपन्यास लिखना आवश्यक बतलाया है। शुक्लजी की इन बातों को यशपालजी एक मामूली हिन्दी-प्रेमी का सुझाव भी मानें और उस पर विचार करें तो वह अपना और हमारा बड़ा उपकार करें।

शुक्लजी ने मानव-जीवन और भौतिक जगत् की वास्तविकता पर बहुत कुछ लिखा है। यशपाल जी को मार्क्सवाद पर पुस्तकें लिखने का शौक है। वह अपनी कई गलत धारणाएं शुक्लजी के अध्ययन से दूर कर सकते हैं। मिसाल के लिये "मार्क्सवाद" नाम की पुस्तक में यशपाल जी ने लिखा है, "मनुष्य का विकास प्रकृति के रूप रहित और गतिहीन पदार्थों से हुआ है।" (यह उद्धरण पुस्तक के १९४४ वाले संशोधित संस्करण से है।) रूपरहित और गतिहीन अध्यात्मवादियों का ब्रह्म होता है, प्रकृति नहीं। इस सम्बन्ध में शुक्लजी की स्थापनाएं यहाँ दोहराने की जरूरत नहीं, पुस्तक में पढ़ी जा सकती हैं। इतना कहना काफी है कि प्रकृति की रूपमयता और गतिमयता की बात शुक्लजी ने बीसों जगह कही है।

यशपालजी के अनुसार "मार्क्सवाद मनुष्य की बुद्धि, चेतना या मन को भौतिक पदार्थों से बना मानता है।" ऐसी बात हो तो बुद्धि गढ़ने का एक

कारखाना खोल लिया जाय और भौतिक पदार्थों से मन और चेतना तैयार करके कुछ कथाकारों के पास भेज दी जाय। शुक्लजी मन को रूप-गतिमय मानते हैं लेकिन मन बाह्य जगत् का प्रतिबिंब है, भौतिक पदार्थ नहीं। भौतिक पदार्थ मस्तिष्क है जिसका गुण है चेतना (बुद्धि भी उसका गुण हो, यह आवश्यक नहीं)।

शुक्लजी ने उन पच्छिमी मनोवैज्ञानिकों का खंडन किया है जो मनुष्य की निःस्वार्थ भावना में विश्वास नहीं करते, जो सच्चे देशभक्तों और क्रान्तिकारियों में भी छिपी हुई स्वार्थभावना ढूंढ़ निकालते हैं। इस घटिया मनोविज्ञान को मार्क्सवाद का नाम देते हुए यशपाल ने लिखा है, "मनुष्य चाहे अपने परिश्रम से कमाया धन दे दे या अपनी जान दे दे, सब कुछ अपने संतोष के लिये ही है।" इसीलिये कुछ लोग अपने संतोष के लिये साहित्य का व्यापार करते हैं, चीरहरण की चर्चा से बिकाऊ माल तैयार करते हैं और पैसे के अलावा जनता के सेवक होने का यशलाभ करते हैं। यशपालजी के आत्मविश्वास से ईर्ष्या होती है। क्या दो टूक बात लिखी है, "मार्क्सवाद कहता है—न्याय और परोपकार में भी स्वार्थ की भावना रहती है।" इस संबन्ध में यशपाल जी को नहीं तो साधारण हिन्दी पाठकों को शुक्लजी में बहुत कुछ सोचने की सामग्री मिलेगी।

प्रोफेसर प्रकाशचन्द्र गुप्ता को शुक्लजी के जनवादी तत्वों से काफी सहानुभूति है। इस विषय पर लेख छापने के लिये मुझे नहीं तो "नया पथ" को उन्होंने आशीर्वाद दिया है। साथ ही उन्हें आपत्ति है कि "नया पथ" के लेख में शुक्लजी की सीमाएं नहीं बतलाई गईं। इस सम्बन्ध में उन्होंने शुक्लजी की छायावाद-संबन्धी आलोचना का हवाला दिया है और लिखा है, "छायावाद की ऐतिहासिक भूमि को शुक्लजी अन्तकाल में ही समझ रहे थे।" गुप्तजी ने जो आलोचना उद्धृत की है, उसे शुक्लजी ने कभी वापस नहीं लिया। वह स्वप्निल क्रान्ति और विचारों में बच्चों की साँस का बराबर विरोध करते रहे और गुप्त जी भी छायावाद के इस रूप का थोड़ा विरोध करते तो उनकी आलोचना कुछ जानदार होती। खास तौर से पंत का सौंदर्यवादी रूप पहचानना शुक्लजी से सीखना चाहिये। रही

जमींदारों से सहानुभूति की बात, उसका पुस्तक में यथास्थान उत्तर मैंने दे दिया है। एक बात मेरी समझ में नहीं आयी। गुप्तजी का कहना है, "चौहान और नामवरसिंह शुक्लजी की ही परम्परा का विकास कर रहे हैं।" शिवदानसिंह चौहान और नामवरसिंह शुक्लजी पर एकाङ्गी समाज-शास्त्री होने का आरोप लगा चुके हैं। यदि इसी परम्परा का वे विकास कर रहे हों तो मैं नहीं जानता लेकिन शुक्लजी का एकाङ्गी समाजशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह मैंने पुस्तक में यथाप्रसंग दिखा दिया है। किसी की परम्परा के विकास का दावा करने के पहले उसे समझ लेना भी जरूरी है। आशा है, प्रोफेसर प्रकाशचंद गुप्त को इस कार्य में मेरे इस क्षुद्र प्रयत्न से भी थोड़ी बहुत सहायता मिल सकेगी।

गोकुलपुरा, आगरा।

१७ ४ ५५।

रामविलास शर्मा

विषय-सूची



दूसरे संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक की एकाध आलोचना में, जो मेरे देखने में आई है, इस बात पर आपत्ति की गई है कि मैंने शुक्लजी को भौतिकवादी कहा है। शुक्लजी और भौतिकवाद के सम्बन्ध में जो कुछ इस पुस्तक में लिखा है, उसे आप पढ़ ही सकते हैं; ऊपर जिस तरह की आलोचनाओं का जिक्र है उनके पढ़ने वाले भी उसे देख सकते हैं। यहाँ मैं "विश्वप्रपंच" की भूमिका की चर्चा करना चाहता हूँ जिससे शुक्लजी के दार्शनिक दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिलेगी। "विश्वप्रपंच" जर्मन वैज्ञानिक हैकल की Riddle of the Universe का अनुवाद है। शुक्लजी ने मैक कैब के अंग्रेजी अनुवाद से लगभग आधी पुस्तक का रूपान्तर किया है। इसके आरम्भ में उन्होंने १५५ पृष्ठों की लम्बी भूमिका दी है जिसके बारे में उन्होंने लिखा है, "अब तक जो कुछ लिखा गया उससे शिक्षित-जगत् के ज्ञान की वर्तमान स्थिति का कुछ आभास मिला होगा।" यह लम्बी भूमिका मानवज्ञान की वर्तमान स्थिति का आभास देने के लिए ही लिखी गई है। अनुवादित अंश १५२ पृष्ठों का है जिसमें शुक्लजी की लिखी गई अनेक महत्वपूर्ण पाद-टिप्पणियाँ हैं। इसे काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने संवत् १९७७ में प्रकाशित किया था। अन्य बातों के अलावा इस भूमिका में शुक्लजी की विज्ञान-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली भी अध्ययन करने योग्य है।

शुक्लजी ने इस पुस्तक का अनुवाद क्यों किया? उसकी इतनी लम्बी भूमिका लिखने की क्या आवश्यकता थी? शुक्लजी हैकल की पुस्तक का परिचय इन शब्दों में देते हैं, "यह अनात्मवादी आधिभौतिक पक्ष का सिद्धान्त ग्रन्थ है। इसमें नाना विज्ञानों से प्राप्त उन सब तथ्यों का संग्रह है जिन्हें भूतवादी अपने पक्ष के प्रमाण में उपस्थित करते हैं। जिस समय यह

ग्रन्थ प्रकाशित हुआ योरप में इसकी धूम सी मच गई। इस पुस्तक ने सबसे अधिक खलबली पादरियों के बीच डाली जिनकी गालियों से भरी हुई सैकड़ों पुस्तकें इसके प्रतिवाद में निकलीं।"

जिस पुस्तक को पादरियों ने गालियाँ दीं, उसे शुक्लजी ने हिन्दी में अनुवाद-योग्य समझा। गाली देने का कारण यह था कि हैक्ल भौतिकवादी था। उसने विकासवाद का प्रतिपादन और समर्थन किया था। इससे धार्मिक अन्धविश्वासों को धक्का लगा था। शुक्लजी ने पादरियों के धर्म का खण्डन करने वाले हैक्ल को "जगद्विख्यात प्राणितत्ववेत्ता" कहा है। उन्होंने यह आवश्यक समझा कि "अनात्मवादी आधिभौतिक पक्ष का सिद्धान्त ग्रन्थ" हिन्दी पाठकों के सामने रखें। उन्होंने यह कार्य सन् १६२० में किया था जब भौतिकवाद और आधुनिक विज्ञान पर लिखने और विचार करने वाले लोग हिन्दी ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं में भी बहुत कम थे। और उन्होंने अनुवाद ही नहीं किया, भूमिका में स्वयं ज्ञान की वर्तमान स्थिति का विवेचन किया। भूमिका लिखने का कारण बतलाते हुए उन्होंने विनम्रता से लिखा है, "पुस्तक में आधुनिक दर्शन और विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली जिन जिन बातों का उल्लेख है उन सबकी थोड़ी बहुत चर्चा भूमिका में इसलिए कर दी गई है जिसमें अभिप्राय समझने में सुबीता हो।"

उनकी भूमिका पुस्तक का अभिप्राय समझने ही में सहायक नहीं होती। उन्होंने हैक्ल के बाद की वैज्ञानिक प्रगति का उल्लेख करके मूल विवेचन को अपने युग के पाठक के लिए पूर्ण बनाया है। भूमिका के प्रथम भाग में आधुनिक भौतिक शास्त्र (Physics) के कतिपय तत्वों का परिचय है। उसके बाद जीवशास्त्र (Biology) और डारविन के विकासवाद का विस्तृत विवेचन है। अन्तिम अन्श में भौतिकवाद और भाववाद (या अध्यात्मवाद) के पक्षों के विभिन्न तर्कों का उल्लेख है। इसके साथ रसायन शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र आदि अन्य विज्ञानों का प्रसगानुसार जिक्र आया है। संसार के प्रति हमारा दार्शनिक दृष्टिकोण क्या हो—इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हिन्दी में पहली बार इतने विस्तार से विज्ञान का अध्ययन किया गया है।

यहाँ पहली बार (सम्भवतः अब तक के लिए अन्तिम बार भी !) प्राचीन दर्शनों और शास्त्रों के विज्ञान-सम्मत तत्वों का उल्लेख करते हुए उनकी सीमाएँ बतलाई गयी हैं। भारतीय समाज के विकास का अध्ययन करने के लिये महाभारत के महत्व की ओर संकेत किया गया है और उससे अध्ययन-पद्धति के लिए कुछ बहुत ही वैज्ञानिक निष्कर्ष निकाले गये हैं।

शुक्लजी ने उन्नीसवीं सदी में विज्ञान की प्रगति के साथ जगत् के सम्बन्ध में लोगों की पुरानी भावनाएँ बदलने की बात कही है। "जहाँ पहले लोग छोटी से छोटी बात के कारण को न पाकर ईश्वर की कृति मान सन्तोष कर लेते थे वहाँ चारों ओर नाना विज्ञानों के द्वारा कार्य-कारण की ऐसी विस्तृत शृंखला उपस्थित कर दी गई कि किसी को बीच ही में ठिठकने की आवश्यकता न रह गई। ज्ञान दृष्टि को बहुत दूर तक बढ़ाने के लिए मार्ग खुल गया।"

धार्मिक विश्वासों के अनुसार लोग समझते थे कि जीवयोनियाँ ईश्वर की रची हुई हैं और सदा से ऐसी ही हैं। डारविन के "विकासवाद से बड़ी खलबली मची। इसकी बात जन-साधारण के विश्वास और धर्म पुस्तकों की पौराणिक सृष्टि के विरुद्ध थी। हमारे यहाँ भी पुराणों में योनियाँ स्थिर कही गई हैं और उनकी संख्या भी चौरासी लाख बता दी गई है। गरुड़पुराण में तो प्रत्येक वर्ग की योनियों की गिनती तक है। डारविन ने यह अच्छी तरह सिद्ध करके दिखा दिया कि एक जाति के जीवों से ही क्रमशः दूसरी जाति के जीवों की उत्पत्ति हुई है।"

पौराणिक अन्धविश्वास वहाँ भी थे, यहाँ भी थे और हैं। लेकिन डारविन ने सिद्ध कर दिया कि जीवयोनियाँ एक लम्बे विकास-क्रम का परिणाम हैं, ईश्वर की रचना नहीं हैं। अन्यत्र शुक्लजी ने लिखा है, "विकास-सिद्धान्त के पहले लोगों का विश्वास था कि इस समय पृथ्वी पर जितने प्रकार के जीव हैं सब के सब सृष्टि के आदि में एक साथ ही उत्पन्न किए गये। डारविन ने यह दिखा कर कि एक ही प्रकार के आदिम क्षुद्र जीवों से क्रमशः नाना प्रकार के जीवों का विधान होता आया है स्थिर-योनि सिद्धान्त का पूर्ण रूप से खन्डन कर दिया।"

को ज्योतिस्वरूप, अगोचर शक्ति आदि के रूप में कल्पित करते हैं। किन्तु प्रकृति की सूक्ष्मता के आगे ज्योति और शक्ति की ये कल्पनाएँ भी स्थूल जान पड़ती हैं। "परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता। परमाणु की बात छोड़ दीजिए, अणुओं की सूक्ष्मता भी कल्पनातीत है। तीव्र से तीव्र सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र उनका दर्शन नहीं करा सकते। उनका निरूपण उनके कार्यों द्वारा गणित आदि के सहारे से ही किया जाता है। जल का ही अणु लीजिए जो इ च के १/१०००००००० वें भाग के बराबर होता है। अब इस अणु की योजना करने वाले परमाणुओं की सूक्ष्मता का इसी से अन्दाजा कर लीजिए। विद्युदणु तो उनसे भी सूक्ष्म हैं। हिसाब लगाया गया है कि हाइड्रोजन के एक परमाणु में १६००० और रेडियम के एक परमाणु में १६०००० विद्युदणु होते हैं। इन विद्युदणुओं के बीच का अंतर उनकी सूक्ष्मता के हिसाब से बहुत अधिक होता है—उतना ही होता है जितना सौर जगत् के ग्रहों के बीच होता है। अपने परमाणु जगत् के अन्तरिक्ष में ये परस्पर शक्ति सम्बद्ध होकर निरन्तर उसी प्रकार वेगसे भ्रमण करते रहते हैं जिस प्रकार सौर जगत् मे ग्रह उपग्रह भ्रमण करते हैं। इसी का नाम है भवचक्र। परमाणु के भीतर भी वही व्यापार हो रहा है जो ब्रह्माण्ड के भीतर। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' वाली बात समझिए।"

शुक्लजी ने प्रकृति की सूक्ष्मता का कलात्मक वर्णन किया है। इस वास्तविक सूक्ष्मता के आगे—परमाणु-जगत् के अन्तरिक्षों की तुलना में—मनुष्य की कल्पना अत्यन्त स्थूल और जड़ सिद्ध होती है। परमाणु-सम्बन्धी आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धानों के कुछ निकट प्राचीन भारत और यूनान के दार्शनिकों की परमाणु-सम्बन्धी कल्पनाएँ पहुँचती हैं। "भूलभूत और परमाणु की कल्पना इसी रीति पर हमारे यहाँ के वैशेषिक दर्शन में भी हुई है।" वैशेषिक के अनुसार जितने प्रकार के भूत होते हैं, उतने ही प्रकार के परमाणु होते हैं, जैसे पृथ्वी-परमाणु, जल-परमाणु आदि। अब परमाणु चार से अधिक प्रकार के माने जाते हैं। वैशेषिक के लिये ये परमाणु एक दूसरे से गुणों में भिन्न थे। जल एक मूल द्रव्य माना गया था "पर आधुनिक रसायन-शास्त्र ने जल को किस प्रकार यौगिक सिद्ध किया है यह ऊपर कहा

जा चुका है।" तब वैशेषिक के प्रति हमारा क्या दृष्टिकोण हो ? उसकी उपेक्षा करें या उसे आधुनिक विज्ञान का पूर्वरूप मान लें ? "मूलभूतों और परमाणुओं का सम्बन्ध वैशेषिक ने उसी रीति से निर्धारित किया है जिस रीति से आधुनिक रसायनशास्त्र ने—यह हमारे लिये कम गौरव की बात नहीं है। ब्यौरा ठीक न मिलने के कारण इस पर परदा डालने की ज़रूरत नहीं।" शुक्लजी प्राचीन दर्शन में विज्ञान-सम्मत तत्वों का उद्घाटन करते हैं और आधुनिक विज्ञान से उसका अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। प्राचीन दर्शन के प्रति उनका यह दृष्टिकोण पुनरुत्थानवादियों और अन्ध श्रद्धालु जनों की उपासना-पद्धति से बिल्कुल भिन्न है।

शुक्लजी के लिये प्रकृति गतिशील है। शक्ति और पदार्थ अन्योन्याश्रित हैं; पदार्थ भी शक्ति में परिवर्तित हो जाता है। प्रकृति जितनी ही विराट् है, उतनी ही सूक्ष्म भी। उसमें आकर्षण और अपसरण जैसे परस्पर विरोधी शक्ति-रूपों की एकता है। भौतिक जगत् के प्रति यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण शुक्लजी के दार्शनिक चिन्तन का महत्वपूर्ण अङ्ग है।

इस भौतिक जगत् का एक महत्वपूर्ण नियम गुणात्मक परिवर्तन से सम्बन्धित है। संसार के दृश्यमान पदार्थ स्थिर और अपरिवर्तनशील नहीं हैं; उनके परिमाण और गुणों में बराबर तब्दीली हुआ करती है। "जिस प्रकार द्रव्य एक अवस्था से दूसरी अवस्था में—ठोस से द्रव, द्रव से वायव्य, वायव्य से द्रव, द्रव से ठोस अवस्था में—लाया जा सकता है उसी प्रकार गतिशक्ति भी एकरूप से दूसरे रूप में लाई जा सकती है। गति ताप के रूप में परिवर्तित हो सकती है, ताप विद्युत् के रूप में, विद्युत् ताप और प्रकाश के रूप में।"

इसी नियम के बारे में आगे लिखा है, "पदार्थों में जो नाना भेद दिखाई पड़ते हैं वे सन्निवेश भेद से होते हैं। तेज के सम्बन्ध से वस्तुओं के गुण में बहुत कुछ फेरफार हो जाता है—जैसे कच्चा घड़ा पकने पर लाल हो जाता है।"

यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रमुख सिद्धांत हैं जो अजीव से जीव और अचेतन से चेतन का विकास समझने में सहायता करता है। विज्ञान की एक

के वर्ग को अन्डज स्तन्य वर्ग कहते हैं।"

सक्रमणविन्दुओं पर पदार्थ का गुण बदलना, कुछ समय के लिए सक्रमण की दशा मे रहना, पदार्थों और जीवों को स्थिर और अपरिवर्तनशील रूपों वाला न मानना, सक्रमणशील जीवों मे भिन्न जातियों के गुणों का होना—यह द्वन्द्वात्मक पद्धति शुक्लजी के अध्ययन की विशेषता है। जीवन की एकता मे विश्वास करने के कारण वह चर अचर का भेद नहीं मानते। "पहले लोग समझते थे कि जन्तु चर हैं और पौधे अचर। मनुस्मृति में लिखा है कि 'उद्भिज्ज स्थावरास्सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिण।' पर वास्तव में चर अचर का भी भेद नहीं है। बहुत से ऐसे जन्तु हैं जो अचर हैं। जैसे, स्पन्ज मूँगा आदि और बहुत से ऐसे सूक्ष्म समुद्री पौधे होते हैं जो बराबर चलते रहते फिरते हैं।"

इसी प्रकार अचेतन सवेदन से चेतना का विकास होता है। "अब रहा सम्वेदन। सम्वेदन का सबसे आदिम रूप है प्रतिक्रिया अर्थात् किसी पदार्थ के साथ सम्पर्क होते ही शरीर में भी एक विशेष प्रकार का क्षोभ या क्रिया (गति) उत्पन्न होना। यह प्रतिक्रिया अचेतन व्यापार मानी जाती है अर्थात् यह ज्ञान पूर्वक नहीं होती लजालू आदि पौधों में तो यह प्रतिक्रिया स्पष्ट देखी जाती है।" इस सिलसिले में जगदीशचन्द्र वसु के अनुसन्धानों का उल्लेख करते हुए उन्होंने सजीव निर्जीव के भेद की समस्या के हल होने की सम्भावना का फिर जिक्र किया है, "अध्यापक जगदीशचन्द्र वसु ने तो पौधों के सुख दुःख आदि के सम्वेदन को अर्थात् उनके सम्वेदन सूत्रों में उत्पन्न क्षोभ को अपने सूक्ष्म और अद्भुत यन्त्रों द्वारा प्रत्यक्ष दिखा दिया है। यहाँ तक नहीं उन्होंने अपनी खोज और आगे बढाई है। उन्होने धातुओं में भी सम्वेदन के क्षोभ का आभास देकर निर्जीव और सजीव के बीच समझे जाने वाले भेदभाव को बहुत कुछ मिटा दिया है।" उन्होंने इसके समर्थन में शेफर का मत भी उद्धृत किया है कि "निर्जीव और सजीव में जितना भेद प्रतीत होता है वास्तव में उतना भेद नहीं है और इन दोनों का एक सामान्य लक्षण स्थापित होने की सम्भावना बढ गई है।"

सम्वेदन ग्रहण करने का काम त्वचा करती है। "अत्यन्त आदिम कोटि

के क्षुद्र जीवों में प्रकाश, शब्द तथा स्थूल पदार्थों का ग्रहण ऊपरी त्वक् पर सर्वत्र समान रूप से होता है। ऊपरी त्वक् सर्वत्र समान रूप से सम्वेदन ग्राही होता है। क्रमशः ऊपरी त्वक् पर विभिन्नताएँ उत्पन्न होने लगीं।...क्रमशः इन सम्वेदन सूत्रों का एक केन्द्र स्थल ग्रन्थि के रूप में उत्पन्न हुआ जिसे ब्रह्म ग्रन्थि कहते हैं। यही केन्द्र स्थान बड़े जीवों का मस्तिष्क है।" पहले त्वचा द्वारा सम्वेदन-ग्रहण, फिर इस अचेतन अवस्था से इन्द्रियों और मस्तिष्क का विकास—मोटे रूप में चेतना के विकास की यह प्रक्रिया शुक्ल जी के सामने रही है।

भूमिका के अन्तिम भाग में भौतिकवादी और भाववादी दर्शनों की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने विकासवाद की सीमाएँ बतलाई हैं। उनका यह कहना सही है कि आधुनिक विज्ञान अभी चेतना के उद्भव की पूरी व्याख्या नहीं कर पाया। व्यवस्था का अर्थ होगा, सचेत प्राणी का निर्माण जो अभी प्रयोगशाला में हुआ नहीं है। यद्यपि उनके सारे विवेचन का झुकाव भौतिकवाद की ओर है, फिर भी उन्होंने अपनी स्थिति स्पष्ट नहीं की। स्पष्ट यह किया है कि छोटे-बड़े धार्मिक अन्धविश्वासों के बदले अब सीधा मोर्चा भाववाद और वस्तुवाद (या भौतिकवाद) के बीच है। पौराणिक कथाएँ ढाल-तलवार का काम नहीं कर सकतीं, इसलिए "अब जिन्हें मैदान में जाना हो वे नाना विज्ञानों से तथ्य संग्रह करके सीधे उस सीमा पर जायँ जहाँ दो पक्ष अड़े हुए हैं—एक ओर आत्मवादी, दूसरी ओर अनात्मवादी, एक ओर जड़वादी, दूसरी ओर नित्य चैतन्यवादी। यदि चैतन्य की नित्य सत्ता सर्वमान्य हो गई तो फिर सब मतों की भावना का समर्थन हुआ समझिए क्योंकि चैतन्य सर्वस्वरूप है। नाना भेदों में अभेद दृष्टि ही सच्ची तत्त्व-दृष्टि है।"

शुक्लजी ने छोटे-मोटे भेदों का जाल दूर करते हुए दर्शन की दो मूल धाराओं का परस्पर विरोध स्पष्ट करके पाठक को अपना रास्ता ढूँढ़ने में सहायता दी है। फिर भी उन्होंने इन दोनों पक्षों में खुल कर किसी एक को ग़लत या सही नहीं कहा। उनका "यदि"—"यदि चैतन्य की नित्य सत्ता सर्वमान्य हो गई"—महत्वपूर्ण है। वे अध्यात्मवादियों की तरह इसे सर्वमान्य

सत्य नहीं मानते। उसे सम्मान्य कराने में दर्शन के प्रयत्न हो चुके, रहस्य-भेद का उत्तरदायित्व अब विज्ञान पर है।

इस कारण भौतिकवाद की ओर बहुत अधिक झुकाव होने पर भी शुक्लजी को सुसगत भौतिकवादी नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यही नहीं है कि शुक्लजी ने अपनी स्थिति स्पष्ट नहीं की वरन् उनके कुछ वाक्य ऐसे भी हैं जिन्हें अध्यात्मवाद की ओर खींचा जा सकता है। ज्ञान की वर्तमान स्थिति को देखते हुए मजहबी झगड़े बन्द करने चाहिए, यह कहने के बाद उन्होंने लिखा है, "सब मतों और सम्प्रदायों में धर्म और ईश्वर की जो सामान्य भावना है उसी का पक्ष अब शिक्षित पक्ष के अन्तर्गत आ सकता है।" यह सामान्य भावना नैतिक आदर्शों की हो सकती है, एक परम चेतन परोक्ष सत्ता की भी। इस वाक्य-द्वार से अध्यात्मवाद विज्ञान-शिविर में प्रवेश कर सकता है।

अन्यत्र प्रकृति के नियमों से भिन्न तर्क और गणित के नियमों को उन्होंने "अपरिहार्य सत्य" कहा है। "उनके अन्यथा होने की भावना त्रिकाल में नहीं हो सकती। बाह्य जगत् पर वे निर्भर नहीं, उससे सर्वथा स्वतन्त्र हैं। वे स्वत प्रमाण हैं।" तर्क और गणित के अपरिहार्य सत्य भी कितने परिहार्य हैं, यह आइन्स्टाइन ने सिद्ध कर दिया है। विश्व की जानकारी बढ़ने पर ज्यामिति के वे नियम बदल गये जो पहले की सीमित जानकारी के आधार पर रचे गये थे। इस तरह के स्वत प्रमाण का दावा भाववादी कर सकते हैं, भौतिकवादी नहीं।

दार्शनिक दृष्टिकोण में इन असगतियों के बावजूद कुल मिला कर शुक्लजी विकासवाद के समर्थक सिद्ध होते हैं। वे डारविन की विचारधारा से प्रभावित ही नहीं वरन् उसे सामाजिक क्षेत्र में स्वयं भी लागू करते हैं। यह एक दिलचस्प बात है कि माल्थस के प्रभाव से डारविन ने प्राणिजगत् में सघर्ष और योग्यतम के जीने का जो सिद्धान्त अपनाया था—माल्थस के प्रभाव से पूँजीवादी समाज की हिंसा को एक प्राकृतिक नियम मान लिया था—शुक्लजी के विवेचन में उसका अभाव है। स्पेन्सर के आधार पर वे "परस्पर साहाय्य की प्रवृत्ति" का जिक्र करते हैं जिससे विकास सम्भव हुआ

है। "सब जीवों में श्रेष्ठ मनुष्य को इसी प्रवृत्ति के उत्कर्ष-साधन में—वसुधैव कुटुम्बकम के भाव की प्राप्ति के प्रयत्न में—लगा रहना चाहिए।" इस प्रकार डारविन की एक कमजोर स्थापना को उन्होंने छोड़ दिया है। उन्होंने अनेक पुरानी जीवयोनियों के विनाश का कारण उनकी अक्षमता—अन्य जीवों की होड़ में पिछड़ जाना—नहीं माना। इसका कारण उन्होने पृथ्वी के धरातल-सम्बन्धी परिवर्तनों को माना है। यहाँ भी वे डारविन की कमजोर स्थापना से बचकर निकले हैं। जीव-योनियों में परिवर्तन के लिए जो वस्तु सबसे अधिक उत्तरदायी है, वह है बाह्य प्रकृति या परिवेश। यहाँ वे डारविनवाद की मूलधारा के समर्थक हैं।

विकासवाद के सिद्धान्त ने प्रकृति विज्ञान को ही नहीं, सामाजिक विज्ञान को भी प्रभावित किया है। उसके प्रभाव के कारण "मनोविज्ञान की ओर से आत्मा के खण्डन-मन्डन की बात अब नहीं उठती। ऐतिहासिक भौतिकवाद की मान्यताओं के अनुरूप शुक्लजी के लिए कोई शाश्वत ईश्वर-विरचित या ऋषि-कृत कर्तव्यशास्त्र नहीं है। मनुष्य ने असभ्यता से सभ्यता की ओर प्रगति की है, न कि सतयुग से कलियुग की ओर उसका पतन होता रहा है। "आधुनिक मत यही है कि मनुष्य जाति असभ्य दशा से उन्नति करते करते सभ्य दशा को प्राप्त हुई है।" नैतिकता और धर्म सभ्यता के अङ्ग हैं। इसलिए "धर्माधर्म या कर्तव्यशास्त्र की नींव भी लोकरक्षा और फलतः आत्मरक्षा पर डाली गई है।" शुक्लजी को इलहाम में वैसे ही विश्वास नहीं है। वे धर्म को आध्यात्मिक क्षेत्र की वस्तु न मानकर उसे सामाजिक नियमों के रूप में ग्रहण करते हैं। "लोकव्यवहार और समाज-विकास की दृष्टि से ही धर्म और आचार की व्याख्या की गई है, परलोक और अध्यात्म की दृष्टि से नहीं।" संस्कृति के अन्य तत्वों की तरह धर्म भी देशकाल-सापेक्ष है, सामाजिक विकास के अन्तर्गत उसका विकास भी हुआ है। "विकासवाद की व्याख्या के अनुसार धर्म कोई अलौकिक, नित्य और स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। समाज के आश्रय से ही उसका क्रमशः विकास हुआ है। धर्म का कोई ऐसा सामान्य लक्षण नही बताया जा सकता जो सर्वत्र और सब काल में—मनुष्य जाति की जबसे उत्पत्ति हुई तब से अब तक—बराबर मान्य रहा हो।

समाज की ज्यों ज्यों वृद्धि होती गई त्यों त्यों धर्म की भावना में भी देशकालानुसार फेरफार होता गया।"

सन् बीस तो क्या, सन् अट्ठावन-उनसठ में भी बहुत कम लोग हैं, जो धर्म और समाज के प्रति यह ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाते हों। इससे सिद्ध होता है कि शुक्लजी अपने युग के अत्यन्त जागरूक विचारकों में थे और उनका महत्व समझने में हम असफल रहे हैं। श्रीपाद अमृत डांगे ने कुछ वर्ष पूर्व महाभारत आदि ग्रन्थों के आधार पर भारतीय समाज के आदिम युग का विवेचन किया था। शुक्लजी ने काफी पहले विकासवाद के सिद्धान्तों को भारतीय इतिहास पर लागू करते हुए लिखा था, "कोई समय था जब एक कुल दूसरे कुल की स्त्रियों को चुराना या लड़कर छीनना अच्छा समझता था। देवताओं पर नरबलि देने में किसी के रोंगटे खड़े नहीं होते थे। बाइबिल में इसके कई उल्लेख हैं, शुन शेफ की वैदिक गाथा भी एक उदाहरण है। उद्दालक और श्वेतकेतु का आख्यान इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है। ये दोनो वैदिक काल के ऋषि थे। एक दिन उद्दालक उनकी स्त्री और उनके पुत्र श्वेतकेतु बैठे थे। एक आदमी आया और श्वेतकेतु की माता को लेकर चलता हुआ। श्वेतकेतु को बहुत बुरा लगा। पिता ने पुत्र को यह कहकर शान्त किया कि यह सनातन धर्म है—एषधर्म सनातन—ऐसा सदा से होता आया है। श्वेतकेतु ने नियम किया कि जो स्त्री एक पति को छोड़ कर जायगी उसे भ्रूणहत्या का पाप होगा और जो पुरुष पतिव्रता को छीनकर ले जायगा उसे भी पातक लगेगा।"

इसके बाद शुक्लजी ने दीर्घतमस ऋषि की कथा कही है जिन्होंने अपनी स्त्री के आचरण से क्रुद्ध होकर शाप दिया था कि कोई स्त्री दूसरे पुरुष से संसर्ग न कर सकेगी। यह शाप आगे चलकर "एकमात्र धर्म" हुआ। "इस बात की पुष्टि महाभारत के अन्य स्थलों से भी होती है। आदि पर्व में कुन्ती के प्रति जो उपदेश है उसमें लिखा है कि प्राचीन समय में केवल ऋतुकाल में पातिव्रत्य आवश्यक था।" इससे सम्बन्धित श्लोक उद्धृत करने के बाद शुक्लजी कहते हैं, "राक्षस विवाह, नियोग इत्यादि उसी असभ्य काल के स्मारक हैं।" इस प्रकार शुक्लजी ने भारतीय समाज को असभ्यता से

सभ्यता की ओर उसी प्रकार विकसित होते हुए माना है जैसे अन्य देशों के समाज। प्राचीन ग्रन्थों को इस विकासवादी दृष्टि से देखना जहाँ सूक्ष्म विवेक का परिचायक है, वहाँ अपने निष्कर्षों को जनता के सामने प्रकाशित करना कम साहस का काम नहीं था।

संक्षेप में "विश्व-प्रपंच" की भूमिका का यह परिचय है। शुक्लजी के अधिकांश पाठक इस निबन्ध से अपरिचित हैं, इसलिये यहाँ उद्धरण देकर उनके विचारों का परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। इससे साहित्य के प्रति उनके दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिलेगी। इससे स्पष्ट होगा कि वह इतनी सख्ती से रहस्यवाद का विरोध क्यों कर रहे थे। हैकल ने जहाँ बाह्य निरीक्षण की पूर्णता के लिये जीव-विज्ञान आदि का अध्ययन आवश्यक बतलाया है, उस स्थल का अनुवाद करते हुए शुक्लजी ने अपनी ओर से एक टिप्पणी जोड़ी है। जिस तरह वे रहस्यवाद पर व्यंग्य करते हैं, उसी तरह इस टिप्पणी में उन्होंने लिखा है, "जो लोग समझते हैं कि आँख मूद कर या समाधि लगाने से भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल की बातें सूझने लगती हैं उन्हें इस पर ध्यान देना चाहिये।" विकासवाद के प्रति उनकी धारणाएँ समझने से भक्ति के विकास का विवेचन आसानी से समझ में आयेगा। इस विकासवादी दृष्टिकोण के कारण उन्होंने साहित्य का अध्ययन करते हुए उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि की चर्चा की, दरबारों और उनसे संबद्ध काव्यधारा की नुक्ताचीनी की और जनता से संबन्धित साहित्य का समर्थन किया।

भौतिकवाद, विकासवाद, जनता से सम्बन्ध आदि कुछ शब्द सुनते ही अनेक मित्र यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि शुक्लजी को मार्क्सवादी घोषित किया जा रहा है। ऐसे मित्रों की सेवा में निवेदन है कि शुक्लजी की विचारधारा और मार्क्सवाद में काफी अन्तर है। मार्क्सवाद प्रकृति और समाज में प्रगति को शनैः शनैः होने वाली ही नहीं क्रान्ति और विस्फोटों द्वारा—कार्य-कारण-शृङ्खला तोड़ कर छलाँगे मारते हुए बहुत सा फासला एक साथ तै करने वाली प्रगति के रूप में भी—देखता है। मार्क्सवाद के लिये इतिहास में वर्ग-संघर्ष की नियामक भूमिका है; वर्गों का निर्माण और उनके परस्पर

सम्बन्ध उत्पादन और वितरण की पद्धति से कायम होते हैं। मार्क्सवाद की मान्यता है कि आधुनिक समाज का सबसे क्रान्तिकारी वर्ग, मजदूर वर्ग, किसानों तथा मध्यवर्गों के साथ मिलकर सत्ता पर अधिकार करेगा और समाजवाद का निर्माण करेगा। मार्क्सवाद में यह और ऐसी ही और बहुत कुछ है। इसलिये गुप्तजी को मार्क्सवादी घोषित करने का सवाल नहीं उठता। ईमानदारी का यह तकाज़ा ज़रूर है कि गुप्तजी हमारे युग के हिन्दी साहित्यिकों में कितना आगे थे और उनकी विचारधारा कितनी वैज्ञानिक है, इसे हम स्वीकार करें।

आगरा
२-१-५६ —रामविलास शर्मा

साहित्य और लोक-जीवन

"मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी का प्रयोजन और विकास होता है।"—चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १३४।

"सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा है।"—चिन्तामणि, पहला भाग पृ० २२७।

"ज्ञानेन्द्रियों से समन्वित मनुष्य-जाति जगत् नामक अपार और अगाध रूप-समुद्र में छोड़ दी गयी है। न जाने कब से वह इसमें बहती चली आ रही है। इसी की रूप-तरङ्गों से ही उसकी कल्पना का निर्माण और इसी की रूप-गति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है।...सुन्दर, मधुर, भीषण या क्रूर लगने वाले रूपों या व्यापारों से भिन्न सौन्दर्य, माधुर्य, भीषणता या क्रूरता कोई पदार्थ नहीं। सौन्दर्य की भावना जगना सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं या व्यापारों का मन में आना ही है।"—रस मीमांसा, पृ० २५६।

इधर हिन्दी साहित्य का नया इतिहास लिखने और हिन्दी में साहित्य-शास्त्र रचने की काफी चर्चा हुई है। इस चर्चा में दिल्ली की "आलोचना"

ने विशेष योग दिया है। हिन्दी साहित्य के नये इतिहास की आवश्यकता है। सन् ४० के बाद हिन्दी में जो साहित्य रचा गया है, पिछले साहित्य पर जो रिसर्च का काम हुआ है, उस सबको समेटकर हिन्दी साहित्य का एक भरा-पूरा इतिहास जरूर लिखा जाना चाहिये। आलोचना के सिद्धान्तों के बारे में हमारी जानकारी बढ़े, उनसे साहित्य को परखने और नया साहित्य रचने में सहायता मिले, यह भी वाञ्छनीय है। लेकिन ये दोनों काम शुक्लजी की विरासत के आधार पर ही हो सकते हैं। इन दोनों क्षेत्रों में शुक्लजी ने उल्लेखनीय कार्य किया है, यह सभी मानते हैं। लेकिन "आलोचना" के अधिकांश लेखकों को इतिहास-लेखन और शास्त्र-चर्चा दोनों में शुक्लजी एक बहुत बड़ी बाधा के रूप में खड़े दिखाई देते हैं। वे शुक्लजी की विरासत को आधार नहीं बनाते, आधार बनाने की बात भी नहीं करते, वे अपने रास्ते से इस विरासत को हटा देना अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं इसलिये शुक्लजी के आलोचना सिद्धान्तों का मूल्यांकन आवश्यक है, उनकी विरासत को पहचानना, उनके विरोधियों के तर्कों की परीक्षा करना एक समयोपयोगी कार्य है।

शुक्लजी पर पहला यह आरोप यह है कि उनका दृष्टिकोण एकांगी समाजशास्त्रीय है। "आलोचना" न० ४ अक्तूबर १९५२ में श्री शिवदानसिंह चौहान ने लिखा है

"शुद्ध कलावादी दृष्टिकोण से तो इतिहास नहीं लिखे गये, लेकिन न्यूनाधिक मात्रा में एकांगी समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण आचार्य शुक्लजी से लेकर आज तक अपनाये जाते रहे हैं, चाहे ये समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण राष्ट्रीय विचारधारा से प्रेरित हो या मार्क्सवादी विचारधारा से।"

श्री नामवरसिंह ने इसी अङ्क में ऊपर की बात यों कही है "शुक्लजी के इतिहास में सामाजिक परिस्थितियां तथा साहित्यकार साथ-साथ रखे जाने पर भी एक दूसरे से अलग हैं।" स्वयं शुक्लजी का ऐतिहासिक सम्बन्ध परिस्थितियों से जोड़ते हुए श्री नामवरसिंह ने लिखा है, "राष्ट्रीय आन्दोलन का वह गांधीयुग था जिसमें व्यक्ति और समाज में यथोचित घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो सका था।"

"आलोचना" के इसी अंक में श्री रांगेय राघव ने अपना यह मत प्रकट किया है कि "आचार्य शुक्ल ने इतिहास को शुद्ध ब्राह्मण दृष्टिकोण से देखा है।"

"आलोचना" के एक ही अंक में तीन ऐसे लेखों का छपना, जिनमें शुक्लजी के बारे में एक ही मत का प्रतिपादन हो, आकस्मिक नहीं कहा जा सकता।

जुलाई सन् ५३ की "आलोचना" में डा० धीरेन्द्र वर्मा ने आधुनिक हिन्दी साहित्य-मीमांसा पर अपना यह विचार प्रकट किया है : "हिन्दी का आधुनिक साहित्य-शास्त्र अथवा समालोचना-शास्त्र सम्बन्धी साहित्य अंग्रेजी के चार-छः चुने हुए ग्रन्थों का सार है, न इस विषय के संस्कृत अथवा रीति-कालीन साहित्य से ही इसका सम्बन्ध है और न वास्तविक हिन्दी ललित साहित्य से ही।"

अक्तूबर ५३ की "आलोचना" में श्री विश्वनाथ आचार्य शुक्ल की सीमाएँ बतलाते हुए कहते हैं, "जिनसे उनका मत विशेष प्रकार से मिलता है वे प्रायः ईसा की १९ वीं सदी के सन्त और बीसवीं सदी के आरम्भ के विचारक हैं। वे प्रायः मध्यवर्गीय और यत्र-तत्र मध्यकालीन संस्कृति के हिमायती हैं। आचार्य शुक्ल की रुचि भी ऐसी ही संस्कृति पर है, यथार्थ विवेचना यह कहने से न हिचकेगी।"

शुक्ल जी की विरासत का मूल्यांकन और उसकी रक्षा क्यों महत्वपूर्ण है, यह दिखाने के लिये ऊपर के उद्धरण काफी हैं।

काव्य के बारे में अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि और रस—ये चार सम्प्रदाय यहाँ प्रचलित रहे हैं। इनमें से शुक्लजी का सम्बन्ध रस सम्प्रदाय से है। भरत से उन्होंने रस-निष्पत्ति का सिद्धान्त लिया है, लेकिन संस्कृत के आचार्यों की रस-सम्बन्धी व्याख्याएँ उन्हे मान्य नहीं हैं।

रस को आनन्द-स्वरूप कहा गया है। शुक्लजी इस बात का विरोध नहीं करते कि रस आनन्द भी देता है। लेकिन उनका तर्क है कि रस आनन्द-स्वरूप है तो काव्य का उद्देश्य क्या है? केवल आनन्द! आनन्द को काव्य का चरम लक्ष्य मानने का अर्थ है, "मार्ग को ही अन्तिम गंतव्य स्थान" मान

लेना। (रस मीमांसा, पृ० २७)।

शुक्लजी का दूसरा तर्क यह है कि साहित्य में क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि भाव अपना सहज रूप छोड़ नहीं देते, इसीलिये जब हम कोई दुःखान्त कथा पढ़ते हैं तो चित्त में खिन्नता बनी रहती है। काव्य से मनुष्य के हृदय में क्रोध, शोक आदि भाव जाग्रत होते हैं। इसलिये लोकोत्तर आनन्द कहने से इसकी व्याख्या नहीं होती। शुक्लजी कहते हैं

"मेरी समझ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप 'आनन्द' शब्द से व्यक्त नहीं होता। 'लोकोत्तर', 'अनिर्वचनीय' आदि विशेषणों से न तो उसके वाचकत्व का परिहार होता है, न प्रयोग का प्रायश्चित्त होता है। क्या क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि आनन्द का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं, अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं, उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते। इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्व को बहुत कुछ कम कर दिया है—उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।" (रस मीमांसा, पृ० १०१)।

मानव-जीवन में भावों का प्रकृत रूप साहित्य में आकर बदल नहीं जाता—शुक्लजी के तर्क की यह आधारशिला है। साहित्य के सम्बन्ध में जितनी भाववादी (आइडियलिस्ट) मान्यताएँ हैं, वे साहित्य को जीवन से अलग करके देखती हैं। शुक्लजी की मौलिक मान्यता यह है कि साहित्य के भावों और जीवन के भावों की अनुभूति आनन्दमय होती है, वह यह नहीं मानते। वह स्पष्ट कहते हैं कि इनकी अनुभूति दुःखात्मक होती है। जो लोग कहते हैं कि आनन्द में भी आँसू आते हैं यानी करुणारस से सुख के आँसू आते हैं, दुःख के नहीं, वे बात टालते हैं। करुणारस प्रधान नाटक के "दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं।" (उप० पृ० २७३)।

शुक्लजी ने यहाँ पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के भाववादी विचारकों को चुनौती दी है। साहित्य से आनन्द ही मिलता है, यह मानकर वे सब विचारक चले हैं। करुणरस या ट्रैजेडी से भी क्यों आनन्द ही मिलता है, इस पर उन्होंने अलग-अलग मत दिये हैं। लेकिन मूल अनुभूति आनन्द की है, इसमें उन्हें सन्देह नहीं। शुक्लजी जीवन और साहित्य के भावों में

बुनियादी अन्तर नही मानते, इसलिये वे रस को भी अलौकिक नहीं मानते। इतना ही नही, वह रस की स्थिति साहित्य से अलग लौकिक जीवन में भी मानते हैं। यद्यपि जीवन के अनेक व्यापारो में हम नित्य ही नीरसता और सरसता का अनुभव करते रहते है, फिर भी भाववादी विचारकों ने रस को साहित्य तक सीमित करके उसे जीवन में अनुभूत रस से एकदम अलग कर दिया था। शुक्लजी की कसौटी यह है कि जब हम क्रोध या भय को "लोक से सम्बद्ध देखेंगे तब हम रसभूमि को सीमा के भीतर पहुँचे रहेंगे।" (उप० पृ० २७३)। जीवन और साहित्य के परस्पर अटूट सम्बन्ध का यही परिणाम निकलेगा। रस लौकिक है; लौकिक जीवन में भी रस है। लोक-जीवन की ठोस धरती पर पैर रोपकर आचार्य शुक्ल ने इस सिद्धान्त की घोषणा की कि लोक-हृदय में लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।

इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी ने शब्द पुराने लिये है लेकिन उनकी स्थापनाएँ उनकी अपनी हैं, मौलिक और क्रान्तिकारी हैं। लोक-हृदय में लीन होने की कसौटी रखकर उन्होंने हर तरह की संकुचित व्यक्तिवादी और भाववादी धारणाओं से साहित्य को मुक्त करके उसे सामाजिक जीवन का एक अंग बना दिया है। इसलिये लोक,हृदय, लोक-मङ्गल या लोकहित को दर-किनार करके साहित्यकार आगे नही बढ़ सकता। वह किसी भी तरह के भाव प्रकट करके, किसी भी तरह रस-निष्पत्ति करके अपना पीछा नहीं छुड़ा सकता। प्राचीन रसवादियो से शुक्लजी का यह महत्वपूर्ण मतभेद है।

भाववादी साहित्य-शास्त्रियो की एक विशेषता यह है कि वे भावों को उनके आधार से अलग करके देखते हैं। शुक्लजी भावो को उनके आधार से अलग करके नही देखते; वे साहित्य में उनके आधार के चित्रण को ही सबसे महत्वपूर्ण समझते है। वह कहते हैं : "भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का सबसे पहला और सबसे आवश्यक काम है।" (उप० पृ० १०६)।

रूढ़िवादी शास्त्र से यह उनका दूसरा महत्वपूर्ण मतभेद है। मानव-जीवन से अलग भाव की शाश्वत सत्ता नहीं है; इसीलिये मानव-जीवन का चित्रण ही मुख्य कर्तव्य है। यहाँ शुक्लजी पश्चिम के उन तमाम भाववादियों

का खण्डन करते हैं जो मानव-जीवन से परे एक अव्यक्त सौन्दर्य की सत्ता मानते हैं जिसकी झलक ही कभी-कभी इस संसार में दिखाई देती है। शुक्लजी वस्तुओं से अलग उनके गुणों की कल्पना नहीं करते।

इस लेख के आरम्भ में दिये हुए उद्धरणों से पता चलता है कि वह जगत् को सत्य मानते हैं। मनुष्य के भीतर भावों का विधान इसी वस्तुगत यथार्थ से हुआ है। मनुष्य के भाव उसकी निजी सृष्टि नहीं हैं, उनकी अपनी वस्तुगत सत्ता है। इसी तरह संसार के रूपों या व्यापारों से भिन्न सौन्दर्य, माधुर्य की स्थिति नहीं है। यहाँ प्लेटो के पग-चिह्नों पर चलने वाला योरप का तमाम भाववादी साहित्य-शास्त्र निरुत्तर हो जाता है क्योंकि उसकी मूल स्थापना सौन्दर्य की निरपेक्ष सत्ता, रूपमय जगत् से परोक्ष सत्ता की स्वीकृति ही है। लेकिन शुक्लजी मानव-सत्ता के ज्ञान को भी लोकरूढ़ मानते हैं। उनके लिये ज्ञान इस वास्तविक जगत् ही का होता है, किसी रहस्यमय आध्यात्मिक शक्ति का नहीं। बीसवीं सदी में योरप की देखा-देखी भारत में अध्यात्मवाद की बराबर चर्चा होने पर शुक्लजी ने चिढ़कर कहा था, 'अध्यात्म' शब्द की मेरी समझ में काव्य या कला के क्षेत्र में कोई जरूरत नहीं है।" (रस मीमांसा, पृ० ६६)।

आचार्य शुक्ल रस-दशा को लोक-हृदय में लीन होने की दशा कहते हैं। लेकिन यह कोई निष्क्रिय दशा नहीं है। भावों का काम है—मनुष्य को कर्मों में प्रवृत्त करना। वह उन लोगों का खण्डन करते हैं जो कहते हैं कि काव्य व्यवहार का बाधक है, उससे अकर्मण्यता पैदा होती है। (उप० पृ० २२)। भाव की प्रतिष्ठा से "कर्म क्षेत्र का विस्तार बढ़ गया है।" (उप० पृ० १६४)। शुक्ल जी ने भाव को कर्म से अलग करके देखा ही नहीं है। उनके अनुसार भाव उस चित्त विकार को कहते हैं "जिसके अन्तर्गत विषय के स्वरूप की धारणा, सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति का बोध और प्रवृत्ति के उत्तेजन से विशेष कर्मों की प्रेरणा पूर्वापर सम्बद्ध संघटित हों।" (उप० पृ० १६८)।

विषय का ज्ञान, सुख-दुख की अनुभूति और कर्म की प्रेरणा—ये सब एक साथ जुड़ी होती हैं। इन क्रियाओं के समुच्चय का नाम ही भाव है। प्राचीन साहित्य शास्त्री स्थायी भावों को रस रूप में प्रकट करके साहित्यिक प्रक्रिया

का अन्त निष्क्रियता में कर देते थे। शुक्लजी ने भाव की मौलिक व्याख्या करके निष्क्रिय रस-निष्पत्ति की जड़ काठ दी है।

इधर हिन्दी में कुछ कलावादियों ने ज्ञानहीन, कर्महीन आनन्द के आधार पर पूर्व और पॉश्चम की पठरी बिठाने की कोशिश की है। हिन्दी में "कला कला के लिये" इस घिसे-पिटे नारे को फिर बुलन्द करके इस सिद्धांत को वैज्ञानिक रूप देने का दावा करते हैं। शुक्लजी ने पश्चिम के इन कलावादियों का खण्डन किया है। वह थियोडोर वाट्स डंठन की तब प्रशंसा करते हैं, जब वह काव्य को शक्ति मानता है। वह उसकी निन्दा करते हैं, जब वह काव्य को शुद्ध कला मानता है। (उप० पृ० ५७)। योरप में प्रत्यक्ष अनुभूति से काव्य की अनुभूति को अलग किया गया, कल्पना को एक स्वतन्त्र-शक्ति मानकर उसे दूसरी सृष्ठि रचने वाला कहा गया। शुक्लजी इन धारणाओं का खण्डन करके कहते हैं कि "सारे वर्ण और सारी रूप-रेखाएँ जिनसे कल्पित मूर्ति-विधान होता है, बाह्य जगत् के प्रत्यक्ष बोध से प्राप्त हुई हैं।" (उप० पृ० २६६)। इस तरह "कल्पना" मनुष्य के वास्तविक जीवन को प्रतिबिम्बित करती है, वह वास्तविक जीवन से निरपेक्ष एक स्वतन्त्र संसार नहीं रचती।

पश्चिमी कलावादियों की तरह शुक्लजी साहित्य को मनुष्य की क्रीड़ा-वृति (प्ले इम्पल्स) का परिणाम नहीं मानते। (उप० पृ० २६५)) फ्रायड आदि पश्चिमी मनो-विश्लेषण के आचार्यों की काम-वासना और स्वप्न-सम्बन्धी स्थापनाओं को वह नहीं मानते। (उप० पृ० २६४)। हिन्दी में अनेक आलोचक फ्रायड को पिण्डदान करके काव्य को अतृप्त कामवासना की काल्पनिक पूर्ति बतलाते हैं। उनका विरोध करने के लिए शुल्क जी के विचार आज भी अपनी प्रगतिशील भूमिका पूरी कर रहे हैं।

काव्य आत्मा है, काव्य एक अखंड तत्व या शक्ति है जिसकी गति अमर है, इस तरह की ब्रैडले, मैकेल आदि की भाववादी स्थापनाओं का उन्होंने खण्डन किया है। (उप० पृ० २६६) शुक्लजी ने यूरोप के अभिव्यंजनावादियो का विरोध किया जो काव्य के वास्तविक आधार को ही अस्वीकार करते थे (उप० पृ० ३३६)। "काव्य में अभिव्यंजनावाद" नाम के निबन्ध में

उन्होंने विस्तार से इटली के भाववादी विचारक क्रोचे की मार्मिक समीक्षा की है। क्रोचे "कल्पना में उठे हुए रूपों की प्रतीति मात्र को" ज्ञान कहता है। (चिन्तामणि दूसरा भाग, पृ० १६८)। शुक्लजी कहते हैं कि इस तरह ईसाई सन्तों को भी आध्यात्मिक आभास हुआ करते थे, लेकिन ये आभास, कल्पना की प्रतीतियाँ हैं, ज्ञान नहीं हैं। वह फ्रांसीसी विचारक बर्गसा की ऐसी ही स्थापना का खण्डन करते हैं कि कल्पना-रूपी स्वयं-प्रकाश ज्ञान हमें पारमार्थिक ज्ञान देता है। (उप० पृ० १६६)। क्रोचे की मुख्य कमजोरी यह है कि वह रूपों को संसार से अलग आत्मा की उपज मानता है। शुक्लजी कहते हैं कि ये सब बाह्य-जगत् से ही प्राप्त किये हुए रूप हैं। (पृ० २००)। क्रोचे के तमाम तर्कजाल का सारतत्व है—कला कला के लिये। शुक्लजी ने उसका वाग्जाल छिन्न-भिन्न करके यह सारतत्व प्रकट कर दिया है। भारतीय साहित्य की तमाम प्रगतिशील परंपराओं को अपना आधार बनाकर उन्होंने क्रोचे और उसके आगत-अनागत पूर्वी-पश्चिमी अनुयायियों को ललकारते हुए कहा था

"काव्य को हम जीवन से अलग नहीं कर सकते। उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु मानते हैं। 'कला कला ही के लिये' वाली बात को जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए। एक क्या कई क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते।" (उप० पृ० २०१)।

शुक्लजी ने पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के भाववादी साहित्य शास्त्रियों की इन धारणाओं को निर्मूल किया कि काव्य का उद्देश्य केवल आनन्द देना है, उसकी अनुभूति जीवन की अनुभूति से मूलतः भिन्न होती है, कल्पना संसार के रूपों से परे अपना एक नया संसार रचती है। उन्होंने रस को काव्य की आत्मा माना लेकिन लोक-हृदय में लीन होने को रस-दशा कहा, ज्ञान को वास्तविक जगत् की सत्ता पर निर्भर बताया, साहित्य शास्त्र से अवैज्ञानिक रहस्यवादी कल्पनाओं को बाहर किया, काव्य के भाव-योग की परिणति लौकिक जीवन के कर्मयोग में की। इस तरह उन्होंने हिन्दी में एक मौलिक साहित्य-शास्त्र की नींव डाली, जो प्राचीन रूढ़िवाद और पश्चिमी कलावाद से स्वतन्त्र ही नहीं है, उनका तीव्र विरोधी भी है। शुक्लजी की

इन मान्यताओं के आधार पर ही आज की हिन्दी आलोचना प्रगति-पथ पर आगे बढ़ सकती है।

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में पहली बार जमकर रीति ग्रंथो का विरोध किया, साहित्य पर उनके घातक प्रभाव का उल्लेख किया। कुछ खास तरह के नायकों, नायिकाओं, उद्दीपनो आदि के भीतर साहित्य को बाँध रखने के प्रयास का विरोध करते हुए उन्होंने कहा—"जिस प्रकार बाह्य दृश्यो के अनन्त रूप हैं उसी प्रकार मनुष्य की मानसिक स्थिति के भी...विविध प्रवृत्तियों के मेल में संघठित जो अनेक स्वभाव के मनुष्य दिखाई पड़ते हैं उनके स्पष्टीकरण के लिये मानव-प्रकृति के अन्वीक्षण की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता उक्त चार प्रकार के ढाचे तैयार मिलने से पिछले कवियों में न रह गई।" (रस मीमांसा पृष्ठ ६५)।

रीति ग्रन्थों के विरोध का मूल सूत्र यही है—मानव प्रकृति की विविधता। शुक्ल जी यथार्थवाद की भूमि से रीति ग्रन्थों की कृत्रिमता दिखाते हैं। उनका आग्रह साहित्य को यथार्थ जीवन के निकट लाने के लिये है, उसे सच्चा और स्वाभाविक बनाने के लिये है। जिस तरह १६ वीं सदी के आरम्भ में अंग्रेजी के रोमांटिक कवियो ने पुराने दरबारी साहित्य-शास्त्र का ताना-बाना नष्ठ करके अंग्रेजी काव्य की आत्मा को मुक्त किया था, उसी तरह आचार्य शुक्ल ने रीतिग्रन्थो के बन्धनों को तोड़कर हिन्दी साहित्य की आत्मा को मुक्त किया। अन्तर केवल इतना है कि अंग्रेजी रीतिग्रन्थों का ताना-बाना बहुत हल्का था और यहाँ के रीतिग्रन्थों का जाल उससे कहीं अधिक जठिल था; उधर अंग्रेजी के रोमाण्टिक कवियों ने अपना आक्रमण बहुधा भाववाद को आधार बनाकर किया था, शुक्लजी ने यह काम मूलतः वस्तुवाद की ठोस धरती से किया।

शुक्ल जी ने दिखाया कि नायको की तरह नायिकाओं के भेद गिना कर साहित्य में नारी-चरित्र के साथ खिलवाड़ किया गया। मौलिकता का ह्रास हुआ। लीक पीटने वालों की संख्या बढ़ती गई। कविता खुशामद और दिल बहलाव की चीज हो गई। शुक्ल जी ने अपने साहित्य-सिद्धांत हवा में नहीं बनाये, न वे सिद्धान्त केवल निषेधात्मक हैं। उन्होने भारतवर्ष

के चार महाकवियों—वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति और तुलसी दास—को अपना आदर्श और आधार बनाया। इनके प्रकृति वर्णन को, इनकी लोक-हृदय में लीन होने की दशा को अपनी कसौटी मान कर वह हिन्दी-संस्कृत के आचार्यों के अवैज्ञानिक सिद्धान्तो और अस्वाभाविक कृतियों की आलोचना करते हैं। साहित्य में सदियो से प्रतिष्ठित शृङ्गार रस को एक कोने मे ठेलते हुए उन्होने "भावमूर्ति भवभूति" के महामन्त्र "एको रस करुण एव" का फिर पाठ किया। भवभूति का जन्म ऐसे समय में हुआ था जब देश में चारों ओर दरबारी साहित्य का बोलबाला था। इसलिये उस महाकवि ने क्षुब्ध होकर कहा था—जो मेरे काव्य की उपेक्षा करते हैं, करें, वे भी कुछ जानते होंगे लेकिन उनके लिये मैंने यह नहीं लिखा, काल अनन्त है, पृथ्वी विशाल है, मेरा भी कोई समानधर्मा कहीं होगा या आगे पैदा होगा।

आलोचना के क्षेत्र में भवभूति के समानधर्मा आचार्य शुक्ल हैं, जैसे काव्य में उनके समानधर्मा महाकवि निराला हैं। शुक्लजी ने साहित्य में वाल्मीकि और भवभूति की परम्परा को फिर जगाया। उन्होंने मंगल का विधान करने वाले दो भाव ठहराये, करुणा और प्रेम। इनमें भी भारतीय महाकाव्यों को देखते हुए करुणा को ही उन्होंने बीज भाव माना। प्रेम की अपेक्षा उन्होंने करुणा को और व्यापक बतलाया। जिससे प्रेम हो, उसी के लिए करुणा जागे, यह आवश्यक नहीं है। करुणा प्रेम से स्वतन्त्र है। "हमारे यहाँ के कवियों ने लोक-रक्षा के विधान में करुणा को ही बीजभाव रखा है।" (रस मीमांसा, पृष्ठ ७६)। शुक्ल जी की करुणा निष्क्रिय करुणा नहीं। करुणा के विरोधी भाव क्रोध से वह उसका समन्वय करते हैं। यह क्रोध व्यक्तिगत हो तो त्याज्य है। जो क्रोध लोक-रक्षा के लिये किया जाय, वह उचित और आवश्यक है। वह कहते हैं, "क्षमा जहाँ से श्रीहत हो जाती है वहीं से क्रोध में सौन्दर्य का आरम्भ होता है।" (चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १३७)। शिशुपालवध के लिये उद्यत कृष्ण और रावण-वध के लिये उद्यत राम की मूर्तियों का स्मरण करके वह सक्रिय प्रतिरोध के लिये ललकारते हैं। वाल्मीकि, व्यास, तुलसीदास आदि महाकवियों की इस सच्ची मानवतावादी परम्परा के आधार पर उन्होंने रीतिग्रन्थों में प्रतिपादित करुणा

का टाट उलट दिया। करुणा का नाम पुराना है, शुक्लजी ने उसे एक नये अर्थ से दीप्त कर दिया है।

इसी तरह शुक्लजी ने वीर रस के स्थायी भाव उत्साह का क्षेत्र भी व्यापक कर दिया है। वैज्ञानिक अनुसंधान, अगम स्थानों की यात्रा, कुरीतियों के विरोध आदि में उन्होंने उत्साह की व्यापकता दिखाकर उसे सामन्ती युद्धों के तथाकथित वीर रस की परिधि से बाहर निकाल लिया है। कर्ममय जीवन में उसका सर्वत्र प्रसार दिखाकर वह कहते हैं, "कर्ममात्र के सम्पादन में जो तत्परतापूर्ण आनन्द देखा जाता है वह भी उत्साह ही कहा जाता है।" (उप० पृ० ६)। इस तरह शुक्लजी ने आनन्दमय क्रियाओं से उत्साह का सम्बन्ध जोड़कर रीतिग्रन्थों के उत्साह का रूप बदल दिया है। हास्य रस में आलस्य और निद्रा को जो संचारी भाव कहा गया था, उसे शुक्लजी की जिन्दादिली स्वीकार न कर सकी। "आलस्य के वर्णन को किसी भाव का संचारी मानना मेरी समझ में ठीक नही।" (रस मीमांसा, पृ० २२५)।

शुक्लजी ने स्थायी भावों की जो नयी व्याख्या की है, उसका कारण वही मानव-जीवन और मानव-स्वभाव की विविधता है, उनकी व्याख्या का आधार वही यथार्थ जीवन का प्रेम है। इसी कारण अलंकारवादियों से उनकी नहीं पटती। अलंकार वर्णन की प्रणालियां हैं, वर्ण्य विषय नहीं। (उप० पृ० ५०)। काव्य में उन्हे प्रधानता नहीं दी जा सकती। जो "अलंकार" वर्ण्य वस्तु का निर्देश करे, उन्हें अलंकार मानने से उन्होने इन्कार किया। उन्होंने अलंकारों की यह व्याख्या की है, "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिकाधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है।" (उप० पृ० ३५८)। अलंकारों का प्रयोग कैसे होना चाहिये, इसकी मिसालें, उन्होने कालिदास आदि कवियों से दी है। अलंकारों को प्रधानता देने पर किस तरह के चमत्कारवाद का जन्म होता है, उसकी मिसाले उन्होंने रीतिकालीन कवियों से दी हैं। बात कहने के लिये बात कहना, उक्ति-चमत्कार दिखाना, अलंकारों के प्रयोग से लोगों की वाहवाही लूटना शुक्लजी को असह्य है। वह हिन्दी के साथ फारसी, उर्दू और अंग्रेजी में भी इस चमत्कारवाद का

निरोध करते हैं। प्रकृति-वर्णन में रीतिकालीन कवियों ने जो प्रकृति को उद्दीपन मात्र बनाकर सकीर्णता दिखाई थी, उसकी तीव्र आलोचना शुक्लजी ने विस्तार से की है और वाल्मीकि और भवभूति के प्रकृति-वर्णन का आदर्श रूप में पेश किया है।

शुक्लजी ने अलकारों को प्रधानता देने वाले शास्त्र पर और चमत्कारों और उक्ति-सौन्दर्य के काव्य पर जो प्रहार किये हैं, वह नये भारत के सास्कृतिक आदोलन का एक महत्वपूर्ण अग है। सदियों से सामन्त वर्ग ने साहित्य को अपने मनोरजन का साधन बना रखा था, साहित्यकारों को अपना क्रीतदास बना रखा था। मध्यकाल के सतकवियो ने इस सामन्ती चाकरी के विरोध में लोक-साहित्य की नींव डाली थी। शुक्ल जी ने नये भारत की सस्कृति के उत्थान के लिये सन्त कवियों के जनवादी तत्व लिये, उनसे पहले के सस्कृत कवियो से करुणा और सक्रिय प्रतिरोध के भाव लिये। उर्दू, हिन्दी और अग्रेजी तीनों ही में चमत्कारवाद, शुद्ध कलावाद का विरोध करके और साहित्य की लौकिकता का प्रतिपादन करके उन्होंने भारतीय सस्कृति के जनवादी रूप को प्रतिष्ठित करने में योग दिया। शुक्लजी का दृष्टिकोण सामत-विरोधी है, इसीलिये वह असहिष्णु है। उनकी आलोचना सामन्ती सस्कृति के प्रेमियों के लिये ललकार है। वह जनता का पक्ष लेकर एक नयी सस्कृति के लिये लड़ने वाली आलोचना है। साहित्य में तटस्थता, जनता के प्रति उदासीनता, शुद्ध कला और शुद्ध कल्पना के हामियों को शुक्लजी का यह लड़ाकू रूप पसद नहीं। लेकिन इसीलिये वह हमारे साहित्यिक विकास के लिये इतना महत्वपूर्ण है।

शुक्लजी ने यही न देखा था कि उनके समय का सामती वर्ग निकम्मा है, उन्होंने यह भी देखा था कि कई सौ वर्ष पहले अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी करके यह वर्ग कभी का जर्जर हो चुका था। यह वर्ग देश-रक्षा और वीरत्व का ठेका लेता था लेकिन देश की रक्षा करने में असमर्थ रहा था। राजा भोज के बारे में उन्होंने लिखा है "भोज ऐसे राजा बात बनाने वाले खुशामदियों को कवि कहकर लाखों का पुरस्कार देने लगे। उसी भोज की तारीफों के पुल बाँधने वाले—उसके प्रताप को

सूर्य से भी बढ़कर बताने वाले चारों ओर से आते थे जिसके सामने ही विदेशी इस देश में आकर भारतीयों की इतनी दुर्दशा करने लगे थे।" (रस-मीमांसा, पृ० ६६)। रीतिकालीन कवि सामंतों के हाथ किस तरह बिक गये थे, उसका व्यंग्यपूर्ण चित्र खींचते हुए शुक्लजी ने लिखा है :

"हिन्दी के रीतिकाल के कवि तो मानो राजाओं के यहां राजाओं की कामवासना उत्तेजित करने के लिये ही रखे जाते थे! एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुँह में मकरध्वज का रस झोंकते ते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज की पिचकारी देते थे। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुसखे भी कवि लोग तैयार करने लगे।" (उप० पृ० २८)। शुक्लजी का व्यंग्य तिलमिला देने वाला है क्योंकि उनका दृष्टिकोण राजा-रईसों के प्रति सहानुभूति पर निर्भर नहीं है। वह सामन्ती वर्ग के निठल्लेपन और उसके चाटुकार साहित्यिक वर्ग की मकरध्वजवादी वास्तविकता प्रकट कर देता है।

सामन्तों के हाथों कविता की जो दुर्दशा हुई है, उसके बारे में शुक्लजी क्रोध के साथ लिखते हैं :—

"कविता पर अत्याचार भी बहुत कुछ हुआ है। लोभियों, स्वार्थियों और खुशामदियों ने उसका गला दबाकर कहीं अपात्रों की आसमान पर चढ़ाने वाली स्तुति करायी है, कहीं द्रव्य न देने वालों की निन्दा। ऐसी तुच्छ वृत्तिवालों का अपवित्र हृदय कविता के निवास के योग्य नहीं।" (रस मीमांसा, पृ० ५३)।

इस तरह वर्ग शब्द का प्रयोग न करके भी शुक्ल जी ने बहुत अच्छी तरह रीतिकालीन साहित्य का वर्ग-आधार स्पष्ट कर दिया है। वर्गों से परे उन्होंने शुद्ध कलावाद के आधार पर इस साहित्य का सौन्दर्य-निरूपण नहीं किया। यही बात शुद्ध कलावादियों के लिये एकांगी समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण है।

शुक्लजी सामन्ती संस्कृति के ही विरुद्ध नहीं हैं, वे यूरोप की बर्बर साम्राज्यवादी संस्कृति का भी विरोध करते हैं। मध्यकालीन आक्रमणकारियों से यूरोप के व्यापारियों की तुलना करते हुए शुक्लजी ने लिखा है : "पुरानी

चढाइयों की लूट-पाट का सिलसिला आक्रमणकाल तक ही, जो बहुत दीर्घ नहीं हुआ करता था, रहता था। पर यूरोप के अर्थोन्मादियों ने ऐसी गूढ़ जटिल और स्थायी प्रणालियाँ प्रतिष्ठित कीं जिनके द्वारा भूमंडल की न जाने कितनी जनता का रक्त चूसता चला जा रहा है—न जाने कितने देश चलते फिरते कंकालों के कारागार हो रहे हैं।" (चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १२६)।

निःसन्देह आचार्य शुक्ल का हृदय साम्राज्यवादी उत्पीड़न से व्यथित था। इस उत्पीड़न के प्रति वह तटस्थ नहीं थे। प्रेमचन्द के साथ उन्होंने बिना किसी दुविधा के उसकी निन्दा की, उसका जघन्य राक्षसी रूप जनता के सामने प्रकट किया। कांग्रेसी नेता रूस के साम्राज्य विरोधी साहित्य को सोद्देश्य (टेंडेंशस) कह कर रेलवे स्टालों से उसका बहिष्कार करा रहे हैं। उन्हें चाहिये कि शुक्लजी की आलोचना से भी ऐसे तमाम सोद्देश्य स्थल निकाल दें क्योंकि उनसे लोगों को याद आयेगा कि भारत आज भी कंकालों का कारागार है और इसका कारण कांग्रेस-राज है, कांग्रेसी नेताओं को उन्हीं व्यापारियों से प्रीति है जिनकी आचार्य शुक्ल ने रोषपूर्ण शब्दों में निन्दा की थी।

शुक्लजी ने साम्राज्यवादी उत्पीड़न का ही विरोध नहीं किया, उन्होंने पश्चिमी देशों की संस्कृति के मूल सूत्र व्यक्तिवाद को भी पकड़ा और दिखाया कि किस तरह बीसवीं सदी में वह पतन की सीमा तक पहुँच गया है। उन्होंने इसकी शुरुआत रिनैसंस काल से ही—यानी पूँजीवाद के अभ्युदय-काल से ही—दिखलायी है। रोमांटिक आन्दोलन के बाद यानी उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यह व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति कितनी विकृत हो गयी और साहित्य के साथ कैसा खिलवाड़ करने लगी, यह उन्होंने इन्दौर वाले भाषण में विस्तार के साथ दिखलाया है। इस तरह उन्होंने अंग्रेजी साहित्य की भौंडी और प्रगतिविरोधी प्रवृत्तियों की ओर से हिन्दी प्रेमियों और लेखकों को सावधान किया है। उन्होंने यूरोप के अबुद्धिवादियों का मजाक बनाया है जो समझते हैं कि अच्छे काव्य न बनने का कारण बुद्धि का बढ़ जाना है।

इस तरह के अबुद्धिवादी हिन्दी साहित्य में भी हैं। पच्छिमी साहित्य के निराशावादियों से हमें सावधान करते हुए शुक्लजी कहते हैं—"वर्त्तमान अंग्रेजी साहित्य-क्षेत्र में उनके नैराश्य में योग देने वाले हैं मि० हाउसमन और इलियट। ये लोग केवल समय-समय-पर अपनी कुढ़न और बौखलाहठ भर प्रकट कर देते हैं।" (चिन्तामणि, दूसरा भाग पृ० २४७—४८)।

शुक्लजी की चेतावनी कितनी सामयिक थी, यह इधर के नये कवियों और कुछ पुराने लेखकों पर इलियट के प्रभाव को देखकर समझा जा सकता है। अज्ञेय और नये प्रयोगवादी कवियों की विषयवस्तु उनकी कुढ़न और बौखलाहट ही व्यक्त करती है। कविता के रूप को विकृत करने में तो ये सब इलियट के भी गुरू हैं।

शुक्लजी को अंग्रेजी से चिढ़ न थी। अंग्रेजी साहित्य की हर बात का विरोध करना प्रतिक्रियावाद की निशानी है। आलोचना में शुक्लजी को रिचार्ड्स का सिद्धान्त पसन्द था कि साहित्य की अनुभूति और प्रत्यक्ष जगत् की अनुभूतियों में मौलिक अन्तर नहीं है। लेकिन उन्होंने रिचार्ड्स के सिद्धान्तों का—जो पूँजीवादी मनोविज्ञान से प्रभावित हैं—समर्थन नहीं किया। यह देखकर प्रसन्नता होती है कि शुक्ल जी ने पश्चिमी आलोचकों द्वारा प्रतिपादित शेक्सपियर की तटस्थता और निरपेक्षता का खंडन किया है। वाट्स डंटन का हवाला देते हुए उन्होंने कहा है कि हम हैमलेट के बहुत से भाषणों को अपनाते हैं जिसका अर्थ है कि उनमें शेक्सपियर की ही भावनाएं प्रकट हुई हैं। (रस मीमांसा पृ० ३१८)। शेली के लिये उन्होंने लिखा है—"अंग्रेज कवि शेली संसार में फैले पाखंड, अन्याय और अत्याचार के दमन तथा मनुष्य-मनुष्य के बीच सीधे सरल प्रेमभाव के सार्वभौम संसार का स्वप्न देखने वाले कवि थे।" (उप, पृ० ६०)। इससे यह भी पता चलता है कि शुक्ल जी को अंग्रेजी कविता में किस तरह के भाव विशेष प्रिय थे। वर्ड्सवर्थ की भी उन्होंने प्रशंसा की है।

शुक्लजी ने भारतीय सामन्तवाद और यूरोपीय पूँजीवाद की सांस्कृतिक धाराओं का जहाँ खण्डन किया है, वहाँ उन्होंने भारतीय पूँजीवाद की मूल

सांस्कृतिक स्थापना—निष्क्रिय प्रतिरोध—का भी खण्डन किया है। पूँजीवादी नेता और लेखक गान्धीवाद की भारतीयता का डंका बहुत पीटते हैं लेकिन गान्धीवाद की मुख्य स्थापना—निष्क्रिय प्रतिरोध—रूसी लेखक तोल्स्तोय की देन है। यह स्थापना जनता के क्रान्तिकारी विरोध को रोकने में और साम्राज्यवाद से समझौता करने के काम आती है, इसलिये पूँजीवादी नेता और लेखक उसके विदेशी होने की बात नहीं करते। फिर भी गान्धीजी ने अपने विरोध प्रदर्शन का ढंग तोल्स्तोय से लिया था, यह उन्हीं की कृतियों से स्पष्ट है। वाल्मीकि, व्यास और तुलसीदास ने अपने चरितनायकों को हमेशा अन्यायी और अत्याचारी का सक्रिय विरोध करते हुए, उसका नाश करते हुए दिखाया। उस परम्परा के उपासक शुक्लजी निष्क्रिय प्रतिरोध का समर्थन कैसे करते? भारतीयता के गान्धीवादी ठेकेदार शुक्लजी के इन शब्दों पर ध्यान दें

"क्रम सौन्दर्य के जिस स्वरूप पर मुग्ध होना मनुष्य के लिये स्वाभाविक है और जिसका विधान कवि-परम्परा बराबर करती चली आ रही है, उसके प्रति उपेक्षा प्रकट करके और कर्म सौन्दर्य के एक दूसरे पक्ष में ही—केवल प्रेम और भ्रातृभाव के प्रदर्शन और आचरण में ही—काव्य का उत्कर्ष मानने का जो एक नया फैशन टाल्सटाय के समय से चला है वह एकदेशीय है। दीन और असहाय जनता को निरन्तर पीड़ा पहुँचाते चले जाने वाले क्रूर आततायियों को उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा मांगने और प्रेम जताने तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा करने में ही कर्त्तव्य की सीमा नहीं मानी जा सकती, कर्मक्षेत्र का एकमात्र सौन्दर्य नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्यकला की पूरी रमणीयता इन दोनों के समन्वय के बीच मंगल या सौन्दर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।" (रस मीमांसा, पृ० ६४-६५)।

लोक के प्रति करुणा से प्रेरित होकर रावण पर चढ़ाई करने वाले राम के "कालाग्नि सदृश क्रोध" का उल्लेख करने के बाद शुक्लजी आगे कहते हैं "काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेमभाव की कोमल व्यंजना में नहीं माना जा

सकता जैसा कि टालस्टाय के अनुयायी या कुछ कलावादी कहते हैं। क्रोध आदि उग्र और प्रचंड भावों के विधान में भी, यदि उनकी तह में करुण भाव अव्यक्त रूप में स्थित हो, पूर्ण सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है।" (उप० पृ० ६८)।

शेली के काव्य "दि रिवोल्ट ऑफ इस्लाम" का हवाला देते हुए शुक्ल जी इसी प्रसंग में कहते हैं : "स्वतंत्रता के उन्मत्त उपासक, घोर परिवर्तनवादी शेली के महाकाव्य "दि रिवोल्ट आफ इस्लाम" के नायक-नायिका अत्याचारियों के पास जाकर उपदेश देने वाले, गिड़गिड़ाने वाले, अपनी साधुता, सहन-शीलता और शांत वृत्ति का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन करने वाले नहीं हैं। वे उत्साह की उमंग में प्रचंड वेग से युद्ध क्षेत्र में बढ़ने वाले, पाखंड, लोक-पीड़ा और अत्याचार देख पुनीत क्रोध के सात्त्विक तेज से तमतमाने वाले, या स्वार्थवश, आततायियों की सेवा स्वीकार करने वालों के प्रति उपेक्षा प्रकट करने वाले हैं। (उप० पृ० ६८ ६६)।

शुक्लजी के इन वाक्यों से प्रकट होगा कि गान्धीवाद राजनीति ही में नहीं, साहित्य के लिये भी कितना हानिकर है। यही कारण है कि निष्क्रिय प्रतिरोध को लेकर हिन्दी में एक अच्छी कविता, एक अच्छी कहानी नहीं लिखी गई। जहाँ के लोग राम और कृष्ण के उपासक हों, जिन्होंने १८५७ में आततायी अंग्रेजों के रणभूमि में छक्के छुटा दिये हों, उनमें निष्क्रिय प्रतिरोध की जड़ें कितनी गहरी होंगी? सर्वश्रेष्ठ गान्धीवादी साहित्यकार स्वर्गीया सुभद्राकुमारी चौहान की सबसे लोकप्रिय कविता थी झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई पर!

प्रेम द्वारा पाप का नाश किया जाय, इस धारणा को तोल्स्तोय के उपदेशों की प्रतिध्वनि बतलाते हुए शुक्लजी ने लिखा है : "विचारने की बात है कि दूसरों की निरन्तर बढ़ती हुई पीड़ा को देख-देख अत्याचारियों की शुश्रूषा और उनके साथ प्रेम का व्यवहार करते चले जाने में अधिक सौन्दर्य का विकास है, कि करुणा से आर्द्र और फिर रोष से प्रज्वलित होकर पीड़ितों और अत्याचारियों के बीच उत्साहपूर्वक खड़े होने तथा अपने

ऊपर अत्याचार-पीड़ा सहने और प्राण देने के लिए तत्पर होने में। हम तो करुणा और क्रोध के इसी सामंजस्य में मनुष्य के कर्म-सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति और काव्य की चरम सफलता मानते हैं।" (चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० ५३)।

शुक्लजी ने ये शब्द "काव्य में रहस्यवाद" नाम के निबन्ध में लिखे थे। बीसवीं सदी के भारतीय रहस्यवाद में वही निष्क्रिय प्रतिरोध भावना छिपी हुई थी। इसी को अध्यात्मवाद भी कहा जाता था। शुक्लजी ने इस रहस्यवाद का रहस्य प्रकट करके देश-सेवा का काम किया था। इसी "अध्यात्म" को उन्होंने साहित्य संसार से निकाल देने की बात कही थी। आज भी जनता के बढ़ते हुए असन्तोष से भय खाकर पूँजीवादी लेखक "रूस" और "भौतिकवाद" को कोसते हुए इस अध्यात्म का स्मरण करते हैं। यह अध्यात्म और निष्क्रिय प्रतिरोध साम्राज्यवाद और भारत के वर्तमान शासक-वर्ग के लिये बहुत ही लाभकारी है। वह साम्राज्यवादी हितों और उससे जुड़े देशी निहित स्वार्थों की रक्षा करने में सहायता करता है। इसीलिये शुक्लजी द्वारा रहस्यवाद और इस अध्यात्म की तोल्स्तोय-पंथ की, आलोचना का महत्व आज भी कम नहीं हुआ।

शुक्लजी कहते हैं—"जब जीवन-प्रवाह क्षीण और अशक्त पड़ने लगता है और गहरी विषमता आने लगती है तब नयी शक्ति का प्रवाह फूट पड़ता है जिसके वेग की उच्छृङ्खलता के सामने बहुत-कुछ ध्वंस भी होता है। पर यह उच्छृङ्खलता वेग जीवन या जगत् का नित्य स्वरूप नहीं है।" (रस मीमांसा पृ० १६)।

ध्वंस कार्य कुछ समय के लिये ही आवश्यक होता है। उसे जीवन का नित्य नियम होना ही न चाहिए। लेकिन वह क्यों अनिवार्य हो जाता है, यह शुक्लजी ने बहुत स्पष्ट बता दिया है। ध्वंस जब नये निर्माण के लिये आवश्यक होता है, तब उसकी भीषणता भी सुन्दर होती है। शुक्ल जी कहते हैं "लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द-ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोक-मंगल और लोक-रंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।"

(उप० पृ० ५६)।

शुक्लजी उन्हीं कवियों को पूर्ण कवि मानते हैं जो "पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण में भी—उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की गतिविधि में भी—पूरी रमणीयता देखते हैं।" (उप० पृ० ५३)।

निश्चय ही शुक्लजी की इस क्रान्तिकारी विरासत की ज्यादा जानकारी होनी चाहिए, और तत्परता से उसकी रक्षा होनी चाहिए।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकालीन साहित्य-शास्त्र का विरोध किया, साहित्य को धनी-वर्ग का सेवक बनने से रोका, उन्होंने सामन्ती संस्कृति और साम्राज्यवादी उत्पीड़न का सच्चा रूप दिखाया, पश्चिमी व्यक्तिवाद और निराशावाद से बचने की चेतावनी दी, निष्क्रिय प्रतिरोध, तोल्स्तोय पंथ, रहस्यवाद और अध्यात्म की पुकार का रहस्य प्रकट किया और अन्याय और अत्याचार के दमन में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की। इस तरह उन्होंने साहित्यकार को जनता का पक्ष लेना सिखाया और नये साहित्य में अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी की।

शुक्लजी का दार्शनिक दृष्टिकोण मूलतः वस्तुवादी है। यह जगत् सत्य है। शुक्लजी ने संसार को कहीं भी मिथ्या नहीं कहा। वह उसे रूप-समुद्र कहते हैं। मनुष्य को अपनी सत्ता का ज्ञान भी लौकिक जीवन से होता है। इस तरह ज्ञान का आधार अलौकिक नहीं है। शुक्लजी उसकी अलौकिकता का खण्डन करते हैं, यह उनके ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धांत का ही परिणाम है। "आत्मबोध और जगद्बोध के बीच ज्ञानियों ने गहरी खाई खोदी, पर हृदय ने कभी उसकी परवाह न की।" (चिन्तामणि पहला भाग पृ० २१३)। प्रसादजी की तरह शुक्लजी भी चेतना और प्रकृति में मौलिक भेद नहीं करते। प्रसादजी ने लिखा था—"एक तत्व ही की प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन।" शुक्लजी के लिये सत्ता एक है। "सम्पूर्ण सत्ता, क्या भौतिक क्या आध्यत्मिक, एक ही परम सत्ता या परमभाव के अन्तर्गत है।" (रस मीमांसा, पृ० ११८-११६)।

फिर भी शुक्लजी का दृष्टिकोण सुसंगत रूप से भौतिकवादी नहीं है।

वह यह स्पष्ट नहीं करते कि विश्व की एकता उसकी भौतिकता में है। वह एक ओर ससार की भौतिकता पर जोर देते हैं और ज्ञान को भौतिक जीवन से ही उत्पन्न मानते हैं, दूसरी ओर वह विश्वआत्मा और भौतिक जगत् में व्यक्त होने वाले ब्रह्म की बात भी करते हैं। उनके विचार म यह एक असगति है। फिर भी यह विश्व-आत्मवाद उनके साहित्य-शास्त्र की मूलधारा नहीं है, यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है। इसीलिये उनके दार्शनिक दृष्टिकोण को मूलत वस्तुवादी कहना उचित है।

शुक्लजी की तर्क-पद्धति द्वन्द्वात्मक है। वह वस्तुओं और विचारों की गतिशीलता पर जोर देते हैं, परम्परा के लिये वह बहुधा "व्यापार" (प्रोसेस) शब्द का इसीलिये प्रयोग करते हैं। सौन्दर्य और मगल को वह गत्यात्मक कहते हैं और यह सिद्धान्त सामने रखते हैं कि "गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है।" (चिन्तामणि, दूसरा भाग पृ० ५८)।

शुक्लजी की द्वन्द्व पद्धति विरोधी वस्तुओं की एकता तुरन्त पहचान लेती है। चिन्तामणि, पहला भाग, का पहला वाक्य ही यह है "अनुभूति के द्वन्द्व ही से प्राणी के जीवन का आरम्भ होता है।"

इस मूल अनुभूति म सुख और दुख जुड़े रहते हैं। भावों की विवेचना म करुणा और क्रोध, भीषणता और माधुर्य आदि का सयोग दिखाने म उन्हें कठिनाई नहीं होती। वह जड़वादी तर्क-शास्त्रियों की तरह यह नहीं कहते कि राम ने रावण पर शस्त्र उठाया, इसीलिये हिंसा हो गयी, वह राम के सात्विक क्रोध के मूल मे लोक-रजन की कामना का उद्‌घाटन करते हैं। साहित्य में केवल असाधारणता की खोज को निंद्य ठहराते हुए वह साधारण और असाधारणता की एकता दिखाते हैं। "साधारण के बीच म ही असाधारण की अभिव्यक्ति हो सकती है।" (रस मीमासा, पृ० १०३)।

शुक्लजी सामन्ती समाज-व्यवस्था के समर्थक नहीं हैं। राजाओं के हाथों काव्य की जो दुर्दशा हुई, उसे उन्होंने उभारकर जनता के सामने रखा। वह भक्ति आन्दोलन के प्रबल समर्थक थे लेकिन उन्होंने साहित्य म दासभाव का समर्थन नहीं किया। वर्णों के हिसाब से मानव धर्म लिया जाय तो वह क्षात्र-धर्म के समर्थक हैं। "कर्म सौन्दर्य की योजना क्षात्र जीवन मे जितने रूप

में सम्भव है, उतने रूपों में और किसी जीवन में नहीं।...मनुष्य की सम्पूर्ण रागात्मिका वृत्तियों को उत्कर्ष पर ले जाने और विशुद्ध करने की सामर्थ्य उसमें है।" (चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० ४३)।

वह काव्य के भावयोग और लौकिक जीवन के कर्मयोग की एकता मानते हैं, इसलिये निठल्ले,, अवकाशभोगी, पैसा-कमाऊ वर्गों के लिए वह कविता की आवश्यकता नही समझते। ऐसे लोग कविता को व्यर्थ का व्यापार समझते हैं। "अर्थागम से हृष्ट, 'स्वकार्य साधयेत्' के अनुयायी काशी के ज्योतिषी और कर्मकाण्डी, कानपुर के बनिये और दलाल, कचहरियो के अमले और मुख्तार, ऐसों को (कवियो को) कार्य-भ्रंशकारी मूर्ख, निरे निठल्ले या खप्त-उल हवास समझ सकते हैं।" (रस मीमांसा, पृ० २२)।

इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी का सामाजिक दृष्टिकोण धनीवर्ग के हितो को देखकर नही बना, उसका आधार साधारण जनता का जीवन है। धनीवर्ग के देश-प्रेम का मखौल उड़ाते हुए शुक्लजी कहते हैं, "देश-प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे पुराने कपड़ो पर रीझकर—या कम से कम न खीझकर—बिना मन मैला किये कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे? मोटे आदमियो! तुम जरा सा दुबले हो जाते—अपने अंदेशो से ही—तो न जाने कितनी ठटरियो पर मांस चढ़ जाता।" (उप० पृ० १५३)। भारतीयता के ठेकेदार बनने वाले कांग्रेसी नेता इन शब्दो की सच्चाई आज भी सिद्ध कर रहे हैं।

शुक्लजी हिन्दू-मुसलमानो की कट्टरता के विरोधी थे। इन दोनो की धार्मिक कट्टरता का विरोध करने के कारण ही उन्होने लिखा था—"सौ वर्ष पहले कबीरदास हिन्दू और मुसलमान दोनो के कट्टरपन को फटकार चुके थे। पण्डितो और मुल्लाओ की तो नही कह सकते, पर साधारण जनता 'राम और रहीम' की एकता मान चुकी थी।"

शुक्लजी देशभक्त लेखक थे, वह साहित्य में देशभक्ति के हामी थे। उन्होंने देश के मनुष्यो और उसकी प्रकृति को देखने, जानने-पहचानने और प्यार करने पर जोर दिया था। अंग्रेजी में जिसे कौस्मौपालिटनिज्म कहा

जाता है, यानी हम तो विश्व-नागरिक हैं, हमें देश प्रेम और राष्टीय स्वाधीनता से क्या मतलब, उसका शुक्लजी ने विरोध किया है। यह विश्ववाद साम्राज्यवादियों के प्रभुत्व का साधन है। जनता की देशभक्ति, अपनी जातीय संस्कृति से उसका प्रेम उनके साम्राज्यवादी प्रभुत्व में बाधक होता है। इसलिये वे विश्ववाद का प्रचार करते हैं। शुक्ल जी ने लिखा था

"इसी देशबद्ध मनुष्यत्व के अनुभव से सच्ची देश भक्ति या देश प्रेम की स्थापना होती है। जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतन्त्र सत्ता को अनुभव नहीं कर सकता वह देश प्रेम का दावा नहीं कर सकता।" (रस मीमांसा, पृ० १५१)।

देशभक्ति, जातीयता और जनहित के आधार पर बना हुआ शुक्ल जी का दृष्टिकोण साहित्य के कलात्मक सौन्दर्य का पूरा हामी है। "सुन्दर और कुरूप—काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं।" (उप० पृ० ३२)। मंगल को वह सुन्दर का ही दूसरा रूप मानते हैं। अमंगल, असुन्दर ही हो सकता है, सुन्दर नहीं। "कविता में कही गई बात चित्र-रूप में हमारे सामने आती है", कलात्मक सौन्दर्य का आधार साहित्य की यही मूर्तिमत्ता है। (उप० पृ० ४१)। इसी कारण वह उक्तिचातुरी को ही काव्य नहीं मानते। "काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है।" (उप० पृ० १६७) इसी आधार पर अंग्रेजी के अनेक पतनशील कवियों की उन्होंने तीखी आलोचना की है जो मौलिकता की खोज में कलात्मक सौन्दर्य के मूल नियम की अवहेलना करते थे। रहस्यवादी कविताओं में मूर्ति की अस्पष्टता के लिये उन्होंने अनेक हिन्दी कवियों की भी आलोचना की है। प्राचीन कवियों के चित्र-सौन्दर्य के लिए उन्होंने उनकी प्रशंसा की। "काव्य में बिम्ब-स्थापना (इमेजरी) प्रधान वस्तु है। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों में यह पूर्णता को प्राप्त है।" (उप० पृ०, ३५८)। जो लोग शुक्लजी के दृष्टिकोण को एकांगी समाज शास्त्रीय कहते हैं, वे वास्तव में किसी और तरह का सौन्दर्य चाहते हैं।

शुक्लजी कलात्मक सौन्दर्य के हामी हैं, इसलिए वह उपदेश देने के विरुद्ध हैं। सूर और तुलसी को कवि न मानकर धर्मोपदेशक मानने वालो

से वह कहते हैं, "सूर और तुलसी को हमें उपदेशक के रूप में न देखना चाहिए। उपदेशवाद या तर्क गोस्वामी जी के अनुसार 'वाक्यज्ञान' मात्र कराते हैं, जिससे जीव-कल्याण का लक्ष्य पूरा नही होता।" (चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २०१)।

शुक्लजी के निधन पर निरालाजी ने लिखा था :

"अमानिशा थी समालोचना के अंबर पर
उदित हुए जब तुम हिन्दी के दिव्य कलाधर।"

चन्द्रमा की चौदह कलाएँ कैसे एक के बाद एक आयी और चन्द्र को पूर्णता देती गयीं, इसका वर्णन करते हुए निरालाजी ने कहा है कि द्वितीया आयी—"किन्तु निशाचर संध्या के अंतर में दहले।" वास्तविकता भी यही है कि निशाचरों ने उन्हें न तो तब क्षमा किया और न अब। शुक्लजी सामन्ती साहित्य-शास्त्र का टाट उलटकर हिंदी का अपना मौलिक शास्त्र रच रहे थे। फिर निहित स्वार्थों के चाकर उनका यह कार्य कैसे सहन करते? आज भी एक वर्ग उनके सिद्धान्तों और साहित्य की आलोचना के बारे में जनता में भ्रम फैलाता है। शुक्लजी ने जो कुछ लिखा, वह उनके गहरे अध्ययन और चिन्तन का परिणाम था। उनके हृदय मे जनता और देश के लिए अगाध प्रेम था, इसीलिये वह नये सिरे से और निर्भीक होकर साहित्य का मूल्यांकन कर सके; नये सिद्धान्त स्थिर कर सके। आज उनके वस्तुवादी दृष्टिकोण, द्वन्द्वात्मक तर्क-पद्धति, वाल्मीकि-भवभूति-तुलसीदास के मूल्यांकन और काव्य में कलात्मक सौन्दर्य के महत्व के सिद्धान्त को आत्मसात् करके ही हिन्दी आलोचना और हिन्दी साहित्य आगे बढ़ सकते हैं। आजकल शाश्वत साहित्य रचने, देश की समस्याओं को भुलाकर निर्लिप्त भाव से सौन्दर्य या अध्यात्म की उपासना करने की बातें अक्सर सुनने को मिलती है। शुक्लजी सामाजिक प्रश्नों की ओर साहित्यकारों की उदासीनता का घोर विरोध करते हैं। "जाने दो, हमसे क्या मतलब; चलो अपना काम देखें। यह महा, भयानक रोग है। इससे मनुष्य आधा मर जाता है।" (रस मीमांसा, पृ०

२४)। साहित्य में तटस्थता की बात करने वाले ऐसे ही अर्धमृत लोग हैं। शुक्लजी साहित्य से राजनीति को बाहर रखने की बात नहीं करते। राजनीति बाहर न रखी जाय, साहित्य मे वह आये, लेकिन साहित्य के अपने गुणों की रक्षा करते हुए।

राजनीति और साहित्य के सम्बन्ध पर शुक्लजी के ये वाक्य मनन करने योग्य हैं।

"यदि किसी जन-समुदाय के बीच कहा जाय कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रति वर्ष उठा ले जाता है तो सम्भव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्र्य और अकाल का भीषण और करुण दृश्य दिखाया जाय, पेट की ज्वाला से जले हुए कंकाल कल्पना के सम्मुख रखे जाय और भूख से तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त क्रन्दन सुनाया जाय तो बहुत से लोग क्रोध और करुणा म व्याकुल हो उठेंगे और इस दशा को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो सकल्प अवश्य करेंगे। पहले ढग की बात कहना राजनीतिज्ञ या अर्थशास्त्री का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य भावना में लाना कवि का।" (उप० पृ० २२)।

हिन्दी म अब जनता के वास्तविक जीवन को प्रतिबिम्बित करने वाला, उसकी आशाओ और सघर्षों को मूत रूप देने वाला साहित्य अधिकाधिक रचा जा रहा है। यही कारण है कि कुछ लोग शुक्लजी की विरासत मिटाने पर तुल गये हैं क्योंकि वह विरासत नये साहित्य के निर्माण के लिए निरतर प्रेरणा देती है। इन्दौर वाला भाषण समाप्त करते हुए शुक्लजी ने उन दिनो का स्मरण किया था जब "थोड़े से लोग किसी भव्य भविष्य की आशा बाँध हिन्दी सेवा कर रहे थे।" हिन्दी ने जितनी प्रगति की थी, उस पर बधाई देते हुए उन्होंने और भी उज्ज्वल भविष्य के लिये बढ़ने का आह्वान करते हुए कहा था—

"जिन आँखों से मैंने इतना देखा उन्हीं से अब अपने हिंदी साहित्य को विश्व की नित्य और अखण्ड विभूति से शक्ति, सौन्दर्य और मगल का प्रभूत सञ्चय करके एक स्वतन्त्र 'नवनिधि' के रूप मे प्रतिष्ठित देखना चाहता हूँ।"

निःसन्देह जनवादी और स्वाधीन भारत में सुखी और शिक्षित जनता के समृद्ध जीवन के आधार पर नये जन-साहित्य के निर्माण द्वारा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यह पुनीत मनोकामना पूरी होगी।



सन्त-साहित्य में योगियों की भूमिका

सन्त साहित्य हिन्दी-भाषी जनता के नवजागरण का साहित्य है। वह उसके जातीय उत्थान का साहित्य है। आचार्य शुक्ल ने निर्गुण और सगुण ब्रह्म के उपासकों को समान रूप से भक्तिकाल में लिया है। यह उचित है क्योंकि निर्गुण और सगुण ब्रह्म के उपासकों में जितनी समानताएँ हैं, उतनी असमानताएँ नहीं। प्रेम की सामान्य भूमि पर उनकी एकता देखी जा सकती है। जो सगुण ब्रह्म के उपासक हैं, वे निर्गुण के विरोधी नहीं हैं, जो निर्गुण के उपासक हैं, वे कभी-कभी उसे निर्गुण-सगुण दोनों से ही परे समझते हैं। इसलिए यह समझना कि सन्त वही हैं जो निर्गुणवादी हैं, सही नहीं है, न यह समझना ठीक है कि भक्त वही हैं जो सगुणोपासक हैं। सगुण और निर्गुण उपासकों को एक ही भक्तिधारा का कवि मानकर शुक्लजी ने साहित्यिक आन्दोलनों को परखने में अपनी सूझ-बूझ का परिचय दिया है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि सन्त-साहित्य पर बौद्ध सिद्धों और नाथपंथी योगियों का विशेष प्रभाव पड़ा है, ये सिद्ध और योगी वैष्णव मत के विरुद्ध थे, इन सिद्धों और योगियों की एक विशेष क्रान्तिकारी भूमिका रही है जो निर्गुणवादी सन्तों में अच्छी तरह पल्लवित हुई। इस

विचारधारा के दो स्वाभाविक परिणाम निकलते हैं : (१) सन्त-साहित्य कोई मौलिक आन्दोलन नही है वरन् सिद्धों और योगियों के चिन्तन का ही विकास है; (२) सिद्धों और योगियो की भूमिका क्रान्तिकारी थी, इसलिये उनके अनुयायी निर्गुणवादी सन्तो का साहित्य क्रान्तिकारी है और राम और कृष्ण के उपासक कवियों का साहित्य सापेक्षरूप में प्रतिक्रिया-वादी।

इस संबन्ध में शुक्लजी का मत विचारणीय है। शुक्लजी की स्थापनाएँ इस प्रकार हैं—

बौद्ध धर्म के विकृत रूप वज्रयान का प्रभाव भारत के पूर्वी भागों में बहुत दिनों तक कायम रहा। "इन बौद्ध तांत्रिकों के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुँचा।" * ये लोग सिद्ध कहलाते थे और अलौकिक शक्ति संपन्न समझे जाते थे। "वज्रयानियो की योग-तन्त्र-साधनाओं में मद्य तथा स्त्रियों का—विशेषतः डोमिनी, रजकी आदि का—अबाध सेवन एक आवश्यक अंग था।" वज्रयानियो के अनुसार निर्वाण का सुख रमणी-प्रसंग के सुख के समान था। मद्यपान और स्त्री-प्रसंग के कारण, मुसल्मानों के आक्रमण के समय, देश के पूरबी भागों में "धर्म के नाम पर बहुत दुराचार फैला था।" रहस्यवादियो की तरह ये सिद्ध अपनी बातें बहुधा सांकेतिक ढंग से या उलटवासियों के रूप मे कहते थे। ये शास्त्रो का विरोध करते थे लेकिन उसके बदले अंतर्मुखसाधना पर जोर देते थे।

कौल, कापलिक, गोरखपंथी आदि मतों का वज्रयान से गहरा संबन्ध है। गोरख-मत या नाथपंथ सिद्धो के मत से एक हद तक भिन्न है। शुक्लजी के अनुसार नाथ-पंथियों ने "वज्रयानियो के अश्लील और बीभत्स विधानों से अपने को अलग रखा" यद्यपि शिव-शक्ति की भावना के कारण कुछ शृङ्गारमयी वाणी भी उनमे मिलती है। सिद्धो का प्रचारक्षेत्र पूरब था, नाथपंथियो का पच्छिम।

नाथपंथियो ने हठयोग का सहारा लिया। उनका उद्देश्य ईश्वर-

---

* देखिये हिन्दी साहित्य का इतिहास

प्राप्ति था। मूर्ति-पूजा, तीर्थाटन, वेद शास्त्र के अध्ययन को वे अनावश्यक समझते थे। वे जाति पाँति के विरोधी थे। वे कान में बड़े-बड़े छेद करके कुण्डल पहनते थे, इसलिये कनफटे कहलाते थे। इनमें बहुत से मुसलमान फकीर भी शामिल हुए।

सिद्धों और नाथपंथी योगियों के चिंतन का विवेचन करने के बाद शुक्लजी कहते हैं "उनकी रचनाएं तांत्रिक विधान, योगसाधना, आत्म-निग्रह, श्वास-निरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अंतर्मुख साधना के महत्व इत्यादि की साम्प्रदायिक शिक्षा-मात्र हैं, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से इनका कोई सबन्ध नहीं।" और भी—"उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं।"

शुक्ल जी की स्थापनाओं का निष्कर्ष यह है कि सिद्धों और योगियों की रचनाएं जीवन से पराङ्मुख थीं, उनमें या तो वामाचार था या हठ-योग, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियां नहीं। इनका प्रभाव निर्गुणवादी सन्तों पर पड़ा, यह वह मानते हैं लेकिन यह भी कहते हैं कि यह प्रभाव वेदान्त के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद, वैष्णवों के अहिंसावाद आदि से घुलमिल कर विकसित हुआ।

इसका यह अर्थ नहीं है कि शुक्लजी धार्मिक कर्मकाण्ड के उपासक थे। उनका कहना है कि "हिंदी साहित्य के आदिकाल में कर्म तो अर्थ-शून्य विधि विधान, तीर्थाटन और पर्वस्नान इत्यादि के सङ्कुचित घेरे में पहले से बहुत कुछ बद्ध चला आता था।" इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी इस तरह के कर्मकाण्डों के विरोधी थे। वे योगियों आदि का विरोध इसलिये नहीं करते कि वे कर्मकाण्डों का मजाक उड़ाते थे वरन् इसलिये कि "जनता की दृष्टि को आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण-विधायक सच्चे कर्मों की ओर ले जाने के बदले उसे वे कर्मक्षेत्र से ही हटाने में लग गए थे।" शुक्लजी उनका विरोध इसलिये करते थे कि "अपनी रहस्यदर्शिता की धाक जमाने के लिये वे बाह्य जगत् की बातें छोड़, घट के भीतर के कोठों की बात बताया करते थे।" बाह्य जगत् की बातें छोड़—यह टुकड़ा ध्यान देने योग्य है। शुक्लजी

साहित्य में कल्पित अनुभूतियों के सद्पाती नहीं हैं; वह साहित्य में इस बाह्य जगत् के मनुष्य और उसकी अनुभूतियों का चित्रण चाहते हैं। शुक्लजी योगियों का विरोध इसलिये करते हैं कि उनकी बानियों का साधारण जनता पर यही प्रभाव पड़ सकता था कि "वह सच्चे शुभ कर्मों के मार्ग से तथा भगवद्गीता की स्वाभाविक हृदय-पद्धति से हटकर अनेक प्रकार के मंत्र, तंत्र और उपचारों में जा उलझे और उसका विश्वास अलौकिक सिद्धियों पर जा जमे।" शुक्लजी उनका विरोध इसलिये करते थे कि "सिद्ध और योगी निरंतर अभ्यास द्वारा अपने शरीर को विलक्षण बना लेते थे। खोपड़ी पर चोट खा खाकर उसे पक्की करना उनके लिये कोई कठिन बात न थी।"

इस तरह की "साधना" से मानव-कल्याण असम्भव था। यह एक तरह के कर्मकाण्ड का खंडन करके उसके बदले उससे भी घटिया कर्मकाण्ड स्थापित करना था। यह योग-साधना मनुष्य को उसके साधारण सामाजिक कार्यों से विमुख करने वाली थी। वह जनसाधारण में आत्मविश्वास पैदा करने के बदले उन्हें सिद्धों और योगियों के अलौकिक चमत्कारों का दास बनाने वाली थी। चिंतन की यह धारा साहित्य में मनुष्य के यथार्थ जीवन के चित्र देकर उसे सरस और सजीव न बना सकती थी; वह उसे जीवन से विमुख करके, नाद, बिंदु और षट्चक्रों में उलझाकर पहेलियों और उलटबासियों की ओर ले जाने वाली थी। भारत का विराट् जनवादी सांस्कृतिक आन्दोलन, जिसे हम भक्ति-आन्दोलन के नाम से जानते हैं, इन कनफटे जोगियों और वामाचारी सिद्धों की प्रेरणा का मोहताज न हो सकता था।

इससे विपरीत स्थापनाएँ श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी की हैं। उनका विचार है कि ईसा की सातवीं सदी में पूर्वी भारत में बौद्ध धर्म का प्रभाव काफी प्रबल था। वह अचानक मिट नहीं गया वरन् साहित्य पर उसका प्रभाव अमिट है। शैव और बौद्ध साधनाओं के मिलने से नाथपंथ पैदा हुआ।

"कबीरदास, सूरदास और जायसी की रचनाओं से जान पड़ता है कि यह संप्रदाय उन दिनों बड़ा ही प्रभावशाली रहा होगा।" (हिन्दी साहित्य की भूमिका, १९५०; पृ० ६–७)। द्विवेदी जी के अनुसार अवतारवाद पर

भी बौद्ध मत का विशेष प्रभाव है। अवतारवाद पहले भी रहा है लेकिन "सूरदास, तुलसीदास आदि भक्तों में उसका जो स्वरूप पाया जाता है वह उन प्राचीन चिन्ताओं से कुछ ऐसी भिन्न जाति का है कि एक जमाने में ग्रियर्सन, केनडी आदि पण्डितों ने उसमें ईसाईपन का आभास पाया था।" बौद्ध धर्म का असर वैष्णव कवियों पर ही नहीं पडा, ईसाई धर्म पर भी उसका असर मौजूद है। "ईसाई धर्म में जो भक्तिवाद है वही महायानियों की देन सिद्ध होने को चला है, क्योंकि ऐसे बौद्धों का अस्तित्व एशिया की पश्चिमी सीमा में सिद्ध हो चुका है और कुछ पण्डित तो इस प्रकार के प्रमाण पाने का दावा भी करने लगे हैं कि स्वयं ईसामसीह भारत के उत्तरी प्रदेशों में आये थे और बौद्ध धर्म में दीक्षित भी हुए थे।" (उप० पृ० १०)। निष्कर्ष यह है कि "बौद्ध धर्म क्रमशः लोकधर्म का रूप ग्रहण कर रहा था और उसका निश्चित चिह्न हम हिन्दी साहित्य में पाते हैं।" इसलिये हिन्दी साहित्य और उसके अध्ययन की सार्थकता किस बात में है? इसमें कि—"इतने विशाल लोक-धर्म का थोड़ा पता भी यदि यह हिन्दी साहित्य दे सके तो उसकी बहुत बड़ी सार्थकता है।" (उप० पृ० १०)।

जो लोग शुक्लजी पर यह आरोप लगाते हैं कि उन्होंने इतिहास को ब्राह्मणवादी दृष्टि से लिखा है, वे कृपया ऊपर का वाक्य पढे। शुक्लजी ने जहां तीर्थाटन, पर्वस्नान आदि कर्मकाण्डों को संकुचित कहा था और हिंदू-मुसलमानों, ऊँच-नीच सभी जातियों के लिये लोक-कल्याण का मार्ग निकालने वाले भक्त-कवियों का स्वागत किया था, वहाँ द्विवेदी जी हिन्दी साहित्य और उसके अध्ययन की सार्थकता इस बात में देखते हैं कि वह बौद्ध धर्म जैसे "विशाल लोकधर्म" का पता दे सके।

द्विवेदीजी का मूल सूत्र बहुत सीधा है। उन्हीं के शब्दों में वह था है "इस प्रकार जिन दिनों बौद्धधर्म उत्तरोत्तर लोक धर्म में घुलमिल रहा था, उन्हीं दिनों ब्राह्मण धर्म उत्तरोत्तर अलग होता जा रहा था। (उप० पृ० ११)

यह सूत्र काफी मौलिक है। इसकी मौलिकता का श्रेय महापण्डित राहुल सांकृत्यायन को है जिनके अनुसार बौद्ध धर्म वैज्ञानिक भौतिकवाद का

ही पूर्व रूप है, जिनके अनुसार बौद्ध कवि अश्वघोष सामन्तों के चाकर हिंदू कवि बाल्मीकि और कालिदास से श्रेष्ठ था। भारतीय संस्कृति को धर्म का पर्याय समझने का चलन राहुलजी ने शक्ति भर किया है। लेकिन धर्मों का इतिहास ही लिखना है तो राहुलजी या हजारीप्रसादजी को इतना तो बताना चाहिये था कि आखिर उस लोक-धर्म का भारत से प्रायः लोप क्यों हो गया।

राहुलजी की विशेषता है कि उन्होंने साहित्य, संस्कृति, इतिहास और भाषा-विज्ञान को भी धर्म की ही दृष्टि से नहीं, नस्ल की दृष्टि से भी देखा है। उनके लिये आर्यों के शुद्ध जनतंत्र के पतन का मुख्य कारण अनार्य रक्त का संमिश्रण रहा है। बिहार में आर्यों की नाक, आँख, रंग आदि की छानबीन करने में उन्होंने विशेष प्रतिभा का परिचय दिया है। द्विवेदी जी ने राहुलजी के नस्लवाद को भी आंशिक रूप में ग्रहण किया है।

द्विवेदी जी की धारणा है कि "पश्चिमी प्रदेशों में बसे हुए आर्य पूर्वी प्रदेशों में बसे हुए आर्यों से भिन्न प्रकृति के हैं।" (उप० पृ० २६)। इस भिन्नता का परिणाम यह निकला कि "पूर्वी प्रदेशों में भारतीय इतिहास के आदिकाल से रूढ़ियों और परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह करने वाले सन्त होते रहे हैं। वैदिक कर्मकाण्ड के मृदु विरोधी जनक और यज्ञवल्क्य तथा उग्र विरोधी बुद्ध और महावीर आदि आचार्य इन्हीं पूर्वी प्रदेशों में उत्पन्न हुए थे।" (उप० पृ० २६)।

द्विवेदी जी जैसे विद्वान ने वेद न पढ़े होंगे, यह सोचना भी पाप होगा। लेकिन क्या ऋग्वेद उन्हें रूढ़िवाद और कर्मताण्ड का ग्रन्थ लगा, यह पूछना असंगत न होगा। या जनक, याज्ञवल्क्य, बुद्ध और महावीर को क्रान्तिकारी सिद्ध करने के लिये ही उन्होंने यह लिख दिखा? जो भी हो, यहाँ महत्वपूर्ण प्रश्न यह नही है कि बुद्ध और महावीर कितने क्रान्तिकारी थे और वैदिक ऋचाओं के निर्माता कितने रूढ़िवादी, महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि द्विवेदी जी ने विचारधारा का स्रोत मनुष्य के सामाजिक जीवन में नहीं खोजा वरन् उसकी नस्ल में तलाश करने की कोशिश की है। यह दृष्टिकोण कितना अवैज्ञानिक है यह कहने की आवश्यकता नहीं। इसके विपरीत शुक्लजी अपने

इतिहास के आरम्भ ही मे कहते हैं "जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियो पर है।" द्विवेदी जी का जोर आतरिक परिस्थितियों पर भी नहीं नस्ल पर है।

भारत मे हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य क्या श्रेष्ठ हैं? इसलिये कि "समग्र भारतीय साहित्य मे हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जिसमें पश्चिमी आर्यों की रूढ़िप्रियता, कर्मनिष्ठा के साथ ही साथ पूर्वी आर्यों की भाव प्रवणता, विद्रोही वृत्ति और प्रेमनिष्ठा का मणिकाचन योग हुआ है।" इस व्याख्या से यह पता नहीं चलता कि पूर्व के सिद्धो और पश्चिम के नाथपंथियों म जो समान गुण मिलते हैं—ब्रह्मणो को गाली देना, योग और चमत्कारों से भोली जनता पर धाक जमाना, सामाजिक जीवन से विमुख होना आदि—उनका कारण क्या है? और सूर और मीरा जैसे सरस कवि पश्चिम म कैसे हुए और डा० रघुवीर और महापण्डित राहुल जैसे विद्वान पश्चिम और पूर्व दोनों ही मे क्यों हुए? या यह भी मणिकाचन सयोग है?

इसम सन्देह नहीं कि द्विवेदी जी की धारणाएँ बदलती रही हैं। उनकी किसी एक स्थापना को निगयु मानना उनके साथ अन्याय करना होगा।

"कबीर" मे वह नाथपथ के बारे म कहते हैं "नाथपथ मे स्मार्त आचारों को कोई महत्व नहीं दिया जाता। यह बात उस स्मार्त हिन्दू-धर्म के एकदम विरुद्ध खड़ा कर देती है।" (पृ० ४०)।

"हिन्दी साहित्य का आदिकाल" म वह उसी नाथमत के बारे म कहते हैं "जैनधर्म से प्रभावित होने के कारण, आशिक रूप से बौद्ध साधना को आत्मसात् करने के कारण, स्मार्त धर्म का आश्रय पाने के कारण और मुस्लिम आक्रमण के रूप म विजातीय सस्कृति की उपस्थिति के कारण वह निर्गुणपंथी, सहनशील उदासीन बना रहा।" (पृ० ३८)।

ध्यान देने योग्य यह टुकड़ा है—स्मार्त धर्म का आश्रय पाने के कारण? "कबीर" मे नाथमत उसका एकदम विरोधी था, यहाँ वह उसका आश्रय पा गया।

"हिंदी साहित्य की भूमिका" में कबीर आदि सन्तों का उल्लेख करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है : "उनके पारिभाषिक शब्द, उनकी रूढ़िविरोधिता, उनकी खण्डनात्मक वृत्ति और उनकी अक्खड़ता आदि उनके पूर्ववर्ती साधकों की देन है। परन्तु उनमें की आत्मा उनकी अपनी है। उसमें भक्ति का रस है और वेदना का ज्ञान है।"

यहाँ द्विवेदी जी कबीर में वेदान्त का ज्ञान देखते हैं, लेकिन "कबीर" में कहते हैं : "पाठकों ने अब तक देख लिया होगा कि कबीर तात्विक दृष्टि से अद्वैतवादी नही थे और उनके निर्गुण राम' में और वेदान्तियों के पारिभाषिक 'निर्गुण ब्रह्म' में मौलिक भेद है।"

यदि ये दोनों बाते सच हों तो मानना पड़ेगा कि कबीर को वेदान्त का ज्ञान तो था लेकिन वह तात्विक ज्ञानी नहीं थे या फिर यह मानना पड़ेगा कि द्विवेदी जी भावप्रवणता में उलटवांसी कह गये हैं !

योगियों और सन्तों में समान बातें कौन सी हैं ? शुक्लजी ने दिखलाया है कि सिद्धों ने बाह्य-पूजा, जाति-पांति, तीर्थाटन इत्यादि के प्रति उपेक्षा-बुद्धि का प्रचार किया; रहस्यदर्शी बनकर शास्त्रज्ञ विद्वानों का तिरस्कार करने और मनमाने रूपकों के द्वारा अटपटी बानी में पहेलियाँ बुझाने का रास्ता दिखाया, घट के भीतर चक्र-नाड़ियाँ, शून्य देश आदि मानकर साधना करने की बात फैलाई और 'नाद, बिंदु, सुरति, निरति' ऐसे शब्द की उद्धरणी करना सिखाया। यही परम्परा अपने ढङ्ग पर नाथपंथियों ने भी जारी रखी। इसी बात को द्विवेदी जी ने अनेक पुस्तकों के अनेक अध्यायों में विस्तार से कहा है। शुक्लजी के अनुसार निर्गुण संत संप्रदाय वेदान्त, सूफीमत और वैष्णव अहिंसावाद आदि को साथ लेकर "सिद्धों और योगियों द्वारा बनाये हुए इस रास्ते पर चल पड़ा।"

शुक्लजी और द्विवेदीजी में अन्तर है यह कि शुक्लजी ने सिद्धो और योगियों की तुलना केवल निर्गुण संप्रदाय से की है, द्विवेदीजी ने सगुणोपासक कवियों पर भी बोद्ध धर्म का प्रभाव देखा है।

शुक्लजी ने धार्मिक कर्मकाण्ड वर्ण-भेद आदि की आलोचना को अशंतः

सही माना है लेकिन सच्चे लोक-कल्याणकारी कार्यों का विरोध करने के कारण उस आलोचना को आदर्श नहीं माना। द्विवेदीजी ने इस आलोचना को प्रगतिशील माना है और यह प्रश्न नहीं किया कि किस दृष्टिकोण से यह आलोचना की जारही है और उससे लोककल्याणकारी कर्मों पर तो कुठाराघात नहीं हो रहा।

शुक्लजी ने सिद्धों के वामाचार की तीव्र भर्त्सना की है, द्विवेदीजी इस बारे में चुप रहते हैं।

शुक्लजी ने जीवन की सहज अनुभूतियों का प्रश्न उठाकर सिद्धों और योगियों की असली कमजोरी प्रकट कर दी है। द्विवेदीजी इस प्रश्न को भारतीय चिंतन की लम्बी चर्चा में छिपा जाते हैं।

शुक्लजी ने सिद्धों और योगियों की जीवन-विमुखता, चमत्कारवाद, जनता पर धाक जमाने की प्रवृत्ति को—संक्षेप में उनके "योग" को—आड़े हाथों लिया है। इन अंधविश्वासों की खुल कर आलोचना की है। द्विवेदी जी ने कभी-कभी दबी जबान से इस योग का लोक-विरोधी रूप स्वीकार किया है और कभी दबी जबान से यह भी कहा है, क्या मालूम, योगी सच ही कहते रहे हों।

"नाथ सम्प्रदाय" में द्विवेदीजी कहते हैं—"इस मार्ग की सबसे बड़ी कमी इसकी गुप्तता और रहस्य के प्रति अनादर का भाव है। इस कमजोरी ने इस मार्ग को नीरस लोक विद्विष्ट और क्षयिष्णु बना दिया।"

"हिन्दी साहित्य की भूमिका" में ऐसे चमत्कारों का जिक्र करते हुए कि गुरू उंगली से आज्ञाचक्र छू दे तो चेला सिद्ध हो जाय, द्विवेदी जी कहते हैं "यह नहीं कहा जा सकता कि यह विश्वास ढकोसला था या गपोड़ियापन का परिणाम था। साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि सदगुरु सचमुच ऐसा कर सकते हैं या नहीं। ये सब बातें साधना की हैं। सच पूछिए तो इस प्रकार बिना अनुभव किये राय देना सिर्फ हिमाकत ही नहीं, अन्याय भी है।"

बीसवीं सदी में योग, कुंडलिनी, गुरू के करस्पर्श से सिद्ध बनने की बातें करना ज़रा कठिन काम है। तुरत अन्धविश्वासी की उपाधि पाने का

खतरा रहता है। शुक्लजी ने जहाँ इन चमत्कारवादियों का खुल कर खंडन किया था, वहाँ द्विवेदीजी उन पुराने अंधविश्वासियों का पक्ष लेकर कहते हैं—बिना अनुभव किये राय देना हिमाकत है, अन्याय है! राय देना जरूरी था; इसलिये भक्तिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवियों ने न्याय-अन्याय और हिमाकत-बेहिमाकत की पर्वाह न करके अपनी राय साफ़-साफ़ जाहिर कर दी थी। वास्तव में सन्तसाहित्य की यह बहुत ही प्रगतिशील भूमिका रही है कि उसने जन-संस्कृति को इन चमत्कारवादियों के चंगुल से छुड़ाया।

शुक्लजी ने तुलसी की यह उक्ति उद्धृत की है: गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग"। जोग और निर्गुन ब्रह्म को लेकर सूर की गोपियों ने जो कुछ कहा है, उससे पता चलता है कि साधारण जनता में यह धारणा प्रचलित थी कि जो निराकार ब्रह्म को मानता होगा, वह योगी भी हो और जो योगी होगा, वह निर्गुणवादी होगा। लेकिन स्वय कबीरदास जो सुन्न-महल की हवा खा आये ये गोरखनाथ का स्मरण यों करते हैं। शुक्लजी ने कबीर की ये पंक्तियाँ उद्धृत की हैं:

"झिलमिल झगरा झूलते बाकी रही न काहु।
गोरख अटके कालपुर कौन कहावै साहु!"

इत्यादि।

यही नहीं कबीरदास योगियों को भी नही छोड़ते।

द्विवेदीजी कहते हैं, "परन्तु अक्खड़ता कबीरदास का सर्व प्रधान गुण नहीं है। जब वे अवधू या योगी को संबोधन करते हैं तभी उनकी अक्खड़ता पूरे चढ़ाव पर होती है।" (कबीर, पृ० १५५)। इसका अर्थ यह हुआ कि कबीरदास योगियों की आलोचना करना हिमाकत न समझते थे वरन् उनकी बहुत सी बातों को हिमाकत समझते थे और इसलिये अपने व्यंग्य के सबसे तीखेवाण उन्हीं के लिये सुरक्षित रखते थे।

कबीर अवधू से कहते हैं:

"जो तुम पवना गगन चढाओ, करो गुफा में वासा।
गगना पवना दोनों बिनसैं, कहँ गया जोग तुम्हारा।"

द्विवेदीजी कबीर के बारे में कहते हैं : "वे समाधिगम्य परमपुरुष का साक्षात्कार कर चुके थे, पवन को उलट कर सहस्रार चक्र में ले जा चुके थे, वहाँ के गगन का अनन्य साधारण गर्जन सुन चुके थे . . " (उप० पृ० १५६)।

पूर्व के आर्यों की भावप्रवणता का यह भी एक प्रमाण है। द्विवेदी के आत्मविश्वास को देखकर ईर्ष्या होती है। इस गये गुजरे जमाने में भी ऐसे लोग हैं जो पवन को उलट कर सहस्रार चक्र में ले जाने में विश्वास करते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि कबीर ने उन सब बातों की चर्चा की है जिनका उल्लेख द्विवेदी जी ने किया है। लेकिन यह उनका कमजोर पहलू है जिसके कारण कबीर मानव-जीवन के साधारण व्यापारों का विस्तार से वर्णन न कर पाये। कबीर का सबल पक्ष पवन को उलटकर सहस्रार में ले जाने में नहीं है वरनन् ब्रह्म साक्षात्कार के लिये प्रेम का मार्ग दिखाने में है, प्रेम के मार्ग से हटकर ज्ञान, ध्यान, पूजा, नमाज और योग की हाँकने वालों की धज्जियाँ उड़ाने में हैं। कहते हैं

"जोगी पड़े वियोग, कहँ घर दूर है।
पासहि बसत हजूर, तू चढ़त खजूर है॥"

जोगी जिसके लिये योग करते थे—यानी उससे अलग रहकर वियोग सहते थे—कबीर उसे अपने पास देखने का दावा करते थे।

कबीर प्रश्न करते हैं—

"कबीर कवन भये बैरागी।
तुम्हरी सुरति कहाँ को लागी॥"

फिर जवाब देते हैं—

"गोरख, हम तबके अहँ बैरागी।
हमरी सुरति ब्रह्म सो लागी॥
ब्रह्मा नहिं जब टोपी दीन्ही, बिस्नु नहीं जब टीका।
सिव-शक्ती कै जनमौ नाहीं, तबै जोग हम सीखा॥"

यहाँ गोरख को कबीर ने जिस तरह याद किया है, उससे नाथ-पंथियों के प्रति उनका विशेष प्रेम सूचित नहीं होता। गृहस्थों को निन्दा करने वाले नाथ-पंथी से कबीर कहते हैं—

"अवधू, भूले को घर लावै।
सो जन हमको भावै॥
घर में जोग भोग घर ही में, घर तज बन नाहिं जावै।"

शुक्लजी ने कबीर में सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद और हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद, दोनों के तत्व देखे हैं। लेकिन यह स्पष्ट करने की आवश्यकता है कि कबीर ने साधनात्मक रहस्यवादियों का—नाथ-पंथी योगियों का—खण्डन भी किया था। नाथपंथी योगियों की विचारधारा मूलतः प्रतिक्रियावादी थी। वे गृहस्थ जीवन के निन्दक थे, सामाजिक जीवन से पराङ्मुख थे, जाति-पांति का विरोध करते हुए वे लोक-धर्म और लोकाचार मात्र के विरोधी बन बैठे थे, वे बाह्य जगत् से ध्यान खींचकर उसे कल्पित चक्रों में अटकाते थे, साधारण जनता पर आतङ्क जमाने के लिये अलौकिक चमत्कारों की डींग हाँकते थे। शुक्लजी ने नाथपंथियों की विचारधारा का यह प्रतिक्रियावादी रूप अच्छी तरह प्रकट कर दिया है। उन्होंने जीवन की सहज अनुभूतियों का अभाव दिखाकर नाथपंथी साहित्य की मूल कमजोरी की ओर संकेत किया है। यदि वे ऐसा न करते तो सन्त साहित्य का क्रान्तिकारी महत्व लोगों की समझ में न आता।

शुक्लजी के जीवन के अन्तिम वर्षों में सिद्धों और नाथों की काफी

चर्चा होने लगी थी। इस चर्चा में बौद्ध धर्म की क्रान्तिकारी भूमिका की भी काफ़ी दाद दी जाने लगी थी। इस चर्चा के सूत्रधारों ने यह ऐतिहासिक तथ्य भुला दिया था कि हिन्दी साहित्य का आदि काल बौद्ध धर्म के प्राय निर्मूल होने का काल भी था। चौथी शताब्दी से ही भारत में वैष्णव मत का उत्थान आरम्भ होगया था। यहाँ की लोक-कथाएँ, तिथि-त्यौहार, मन्दिर-मूर्तियाँ आदि उसके विशाल प्रसार की साक्षी हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने एक निबन्ध म लोक-जीवन की साधारण रीतियों आदि का विवेचन करके उसका प्रसार सिद्ध किया है।

इस वैष्णव मत के प्रभाव से न तो सूर-तुलसी बचे हैं, न कबीर-जायसी। इसलिये सन्त-साहित्य के विकास का अध्ययन करते हुए उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की छान-बीन करना हो तो नाथपथ के मुकाबले में वैष्णव मत पर जोर देना ज्यादा लाभकारी होगा। स्वय कबीर ने जहाँ गोरखनाथ को ललकारा है, वहाँ रामानन्द के लिये गर्व से कहा है—

"कासी म हम प्रगट भये हैं,रामानन्द चेताये ।
प्यास अहद की साथ हम लाये, मिलन करन को आये।"

यदि कोइ कहे कि वैष्णव मत ने स्वय वज्रयानी सिद्धो या दूसरे बौद्ध विचारकों से माल चुराया है तो पुष्ट प्रमाणों के अभाव में यह मत उतना ही मान्य होगा जितना यह कि तुलसीदास ने बाइबिल के प्रभाव से विनय पत्रिका लिखी थी।

वास्तविकता यह है कि सैकड़ों वर्षों से बौद्ध और अबौद्ध दोनो ही तरह के विचारकों के चित्त पर योग की विचारधारा कुडलिनी मारे बैठी थी। यह विचारधारा मनुष्य के सामाजिक कार्यों से उसकी आस्था नष्ट करती थी, तरह-तरह की तथाकथित साधनाओं में उसका समय और शक्ति नष्ट करके अन्याय का प्रतिरोध करने से उसे रोकती थी। योग के विरुद्ध बहुत दिनों से सघर्ष चल रहा था और अन्त में उसने योग और भक्ति के सघर्ष का रूप ले लिया। मध्यकालीन भारतीय चिन्तन में यह सघष अत्यन्त महत्व-

पूर्ण था। इस संघर्ष के बिना साहित्य और दर्शन को यथार्थ जीवन की ओर उन्मुख न किया जा सकता था। कबीर-सूर-तुलसी की रचनाएं बराबर योग वनाम भक्ति के संघर्ष की सूचना देती हैं। स्वयं कबीर भक्त हैं या कि योगी? इस संबन्ध में द्विवेदीजी की मान्यता सर्वमान्य होगी, इसमें सन्देह नहीं। वह कहते हैं—"भक्ति के लिये केवल एक ही बात आवश्यक है,—अनन्य भाव से भगवान की शरणागति, अहेतुक प्रेम, बिलाशर्त आत्मसमर्पण। कबीरदास में इन बातों की चरम परिणति हुई है।" (कबीर, पृ० १४७)। इसका अर्थ यह है कि कबीरदास भक्त ही नहीं थे, वरन् उच्चकोटि के भक्भ थे। भक्ति का मौलिक लक्षण उनमें पूर्ण-विकसित दिखाई देता है। "हिन्दी साहित्य की भूमिका" में उद्धृत यह दोहा कैसा सार्थक बैठता है—

"भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाये रामनन्द।
परगट किया कबीर ने, सप्त दीप नवखंड॥"

इसलिये कबीर और अन्य भक्तों की साँस्कृतिक पृष्ठभूमि की छानबीन करते हुए रामानन्द की चर्चा भी होनी चाहिये, यह भी देखना चाहिए कि रामानन्द नाथ-योगियों और सिद्धों से कितना भिन्न थे।

रामानन्द के साथ भागवत की चर्चा भी होनी चाहिये जिसने भक्ति द्वारा अन्त्यजों, समाज के बहिष्कृतों आदि के मुक्ति पाने का दावा किया था।

ये मानवाः पापकृतास्तु सर्वदा
सदा दुराचाररता विमार्गगाः।
क्रोधाग्निदग्धाः कुटिलाश्च कामिनः
सप्ताह यज्ञेन कलौ पुनन्ति ये॥

पापी, दुराचारी, कुमार्गगामी, क्रोधी, कुटिल, कामी—सभी भक्ति के प्रसाद से मुक्ति पा जाते हैं।

पंडितों और कर्मकाण्डी विद्वानों पर व्यंग्य करने की प्रथा भी भागवत

के लिये नयी नहीं है। कलियुग के पंडितों का यह हाल है—

पण्डितास्तु कलत्रेण रमन्ते महिषा इव।
पुत्रस्योत्पादने दक्षा अदक्षा मुक्तिसाधने॥

इसके सिवा वर्ण-व्यवस्था और उसके समर्थक शास्त्रों का विरोध उतना ही पुराना है जितनी पुरानी यह व्यवस्था और उसके समर्थक शास्त्र हैं। भारत में स्वतन्त्र चिंतन की कभी कमी नहीं रही। इसलिए सन्त-कवियों में वर्णव्यवस्था आदि का खण्डन देखकर उसका श्रेय सिद्धों और योगियों को देना ठीक नहीं।

सन्तों ने साहित्य रचा है, केवल साम्प्रदायिक ग्रन्थ नहीं। प्राचीन साहित्य की महाकाव्यों वाली परम्परा का उन पर प्रभाव पड़ा है, यद्यपि समान रूप से नहीं। उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि आँकते हुए वाल्मीकि और व्यास की परम्परा पर भी ध्यान देना आवश्यक है। उनके उपास्य राम और कृष्ण का चरित एक हद तक रामायण और महाभारत से ही लिया गया था।

सन्त साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि आँकते हुए हिन्दी-भाषी प्रदेश की लोक-कथाओं और जन-संस्कृति की ओर ध्यान देना आवश्यक है। जन-संस्कृति के आधार पर ही, यहाँ के लोक-गीतों, लोक-रीतियों, लोकगाथाओं के आधार पर ही सन्त साहित्य को अपार लोक प्रियता सुलभ हुई। भक्ति-कालीन साहित्य में यह नया तत्व था। यह तत्व उनके साहित्य की विषय-वस्तु और उसके रूप दोनों में व्याप्त है—जो उसे प्राचीन संस्कृत साहित्य और सिद्धों-नाथों की बानियों से अलग करता है। दूसरे शब्दों में ब्रज और अवध के किसानों का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन वह दृढ़ आधार शिला है जिस पर सन्त-साहित्य का प्रासाद निर्मित हुआ है।

शुक्लजी ने अपने इतिहास में जायसी आदि की प्रेम कथाओं के सिल-सिले में लिखा है—

"हमारा अनुमान है कि सूफी कवियों ने जो कहानियाँ ली हैं वे सब हिन्दुओं के घर में बहुत दिनों से चली आती हुई कहानियाँ हैं जिनमें आव-

श्यकतानुसार उन्होंने कुछ हेर फेर किया है ।" जायसी का प्रेम-मार्ग बाहर को है या यहाँ का, इस पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ पर ध्यान देने की बात इतनी ही है कि शुक्लजी ने भक्तिकालीन साहित्य में लोकगाथाओं का महत्व स्वीकार किया है ।

शुक्लजी लोकधर्म में ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय चाहते थे; इसलिये उनके हृदय में जितना आदर तुलसी के लिये था, उतना न कबीर के लिये, न सूर के लिये। इसका न तो यह अर्थ है कि वह कबीर को महान् कवि न मानते थे, न यह कि वह कबीर के वर्णव्यवस्था और धार्मिक कट्टरता के विरोध से बेहद क्षुब्ध थे।

सन्तों का मार्ग हिन्दू-मुस्लिम एकता का मार्ग था। इस बारे में शुक्ल जी अपने इतिहास में लिखते हैं : "प्रेमस्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।" (पृ० ७६)

कबीर के बारे में उन्होंने स्पष्ट लिखा है : "इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को सँभाला जो नाथ-पंथियों के प्रभाव से प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और उसे भक्ति के ऊँचे से ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिये बढ़ावा दिया।" (उप० पृ० ७८-७६)।

कबीर पर सारी पुस्तकें एक तरफ और शुक्लजी के ये तीन वाक्य एक तरफ। कबीर का क्रान्तिकारी कार्य इस बात में है कि उन्होंने जनता के उस बड़े भाग को सँभाला जो नाथपंथियों के प्रभाव से शुष्क पड़ता जा रहा था। कबीर की क्रान्तिकारी भूमिका साधारण जनता को नाथपंथियों के प्रभाव से मुक्त करने में है, न कि उनके पीछे चलने में। यह काम उन्होंने दार्शनिक क्षेत्र में किया। दूसरा काम उन्होंने यह किया कि मनुष्यत्व की सामान्य भावना के आधार पर उन्होंने निम्न श्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव

जगाया। इस कार्य से उन्होंने निम्न वर्गों की सामाजिक चेतना को निखारा, उसे बल प्रदान किया। इस तरह उन्होंने जनसाधारण को सामन्ती अत्याचारों के विरोध में खड़ा होना सिखाया।

शुक्लजी ने यह भी कहा है कि निर्गुणमत के लिये नाथपंथियों ने रास्ता साफ कर दिया था। उनके उस तरह के वाक्यों को ऊपर के उद्धृत वाक्यों के साथ मिलाकर पढ़ना चाहिये। नाथपंथियों और निर्गुणमतवादियों में कुछ बातें समान थीं लेकिन इस समानता को बढ़ा चढ़ाकर दिखाना न चाहिये। कारण यह कि नाथपंथी जहाँ एक पाखंड का खंडन करते थे वहाँ उसकी जगह दूसरे पाखंड की सृष्टि करते थे। संतों का क्रान्तिकारी कार्य यह है कि उन्होंने जनता को नाथपंथ के प्रभाव से बचाया। कबीर की महत्त्वपूर्ण भूमिका यह है कि उन्होंने प्रेम के आधार पर मनुष्यमात्र की एकता की घोषणा की और निम्न वर्गों की जनता में आत्मगौरव के भाव जगाये।

सन्त-साहित्य के सिलसिले में नाथपंथियों की भूमिका पर कुछ विस्तार से लिखने का कारण यह है कि इधर कुछ दिनों से रांगेय राघव जैसे कुछ लेखक यह दावा करने लगे हैं कि मध्यकालीन भारत की क्रान्तिकारी विचारधारा नाथपंथ थी, उसके प्रभाव से कबीर क्रान्तिकारी हुए और उसके अभाव में तुलसी प्रतिक्रियावादी। ऐसे लोगों को अपने प्रचार के लिये श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी की अनेक स्थापनाओं से बल मिला है, इसलिये उनकी चर्चा भी यहाँ की गई है। यह कहना आवश्यक है कि रांगेय राघव आदि लेखक शुक्लजी पर जो ब्राह्मणवादी होने का और तुलसी पर सामन्तों के समर्थक होने का दोष लगाते हैं, वह मत द्विवेदीजी का नहीं है। फिर भी उस मत के एकाध कीटाणु द्विवेदीजी में भी हैं, यह माने बिना निस्तार नहीं है।

"हिन्दी साहित्य का आदिकाल" में द्विवेदी जी लिखते हैं "इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। कभी-कभी शुक्लजी के मत को भी इस मत के समर्थन में उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात बहुत उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश देना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए।" (पृ० ११)

यहां द्विवेदीजी ने शुक्लजी पर बांका आक्रमण किया है। शायद शुक्लजी के मत को उद्धृत करना उचित नहीं है। लेकिन आगे चलकर स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लजी का मत स्वयं भी उचित नहीं है। द्विवेदीजी आगे कहते हैं :

"इधर जैन-अपभ्रंश-चरित-काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है वह सिर्फ धार्मिक संप्रदाय के मुहर लगने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है। स्वयंभू, चतुर्मुख, पुष्पदंत और धनपाल जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्यक्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्य कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरितमानस भी साहित्यक्षेत्र में अविवेच्य हो जायगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य-सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा।" (पृ० ११)।

बात बिल्कुल ठीक है। शुक्लजी या और किसी ने ऐसा किया है तो उस पर धार्मिक संकीर्णता का दोष अवश्य लगेगा। सबसे पहले इस प्रश्न का उत्तर मिलना चाहिये कि द्विवेदी जी ने जिन सिद्धों और नाथपंथियों की रचनाओं का प्रचुर उल्लेख किया है, वे साहित्य की श्रेणी में आती हैं या नहीं। यदि नहीं आतीं तो शुक्लजी का मत ठीक है, आती हैं तो वह मत गलत है। शुक्लजी का मत उद्धृत करने वालों का खंडन करने के लिये द्विवेदीजी ने सिद्धों और नाथपंथियों की रचनाओं का जिक्र नहीं किया वरन् जैन कवियों का हवाला दिया है जिनकी रचनाओं की विपुल सामग्री "इधर" उपलब्ध हुई हैं। अपभ्रंशकाल के कवियों की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने हेमचंद्र, सोमप्रभ सूरि, मेरुतुङ्ग आदि का अलग से उल्लेख किया है।

इनकी चर्चा करने से पहले शुक्लजी ने सिद्धों और योगियों के सिलसिले में जो वाक्य लिखे हैं—और साम्प्रदायिक शिक्षामात्र से इन जैन और अन्य कवियों के "सामान्य साहित्य" को कैसे अलग किया है—यह ध्यान देने योग्य है। सिद्धों और योगियों की कृतियों के सिलसिले में शुक्लजी लिखते हैं :

"उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और

दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। ये साम्प्रदायिक शिक्षामात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। उन रचनाओं की परंपरा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते। अतः धर्म-सम्बन्धी रचनाओं की चर्चा छोड़, अब हम सामान्य साहित्य की जो कुछ सामग्री मिलती है, उसका उल्लेख उनके संग्रह-कर्ताओं और रचयिताओं के क्रम से करते हैं।"

इन्हीं संग्रहकर्ताओं और रचयिताओं में "जैन आचार्य्य हेमचंद्र', "जैन पंडित" सोमप्रभसूरि और "जैनाचार्य्य" मेरुतुंग भी हैं। ये सब विशेषण शुक्ल जी के दिये हुए हैं। इससे पता चलता है कि शुक्लजी को जैनियों, बौद्धों या नाथपंथियों से चिढ़ न थी, उनकी कसौटी यह थी कि आलोच्य ग्रंथ साम्प्रदायिक शिक्षामात्र न हों, उनमें जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं का चित्रण हो और वे "सामान्य साहित्य" की कोटि में आते हों। इसलिये सत्य यह है कि शुक्लजी ने "सामान्य साहित्य' में जैन कवियों की रचनाओं को भी लिया है, यदि अनेक महत्वपूर्ण कृतियां छूट गई हैं तो इसका कारण उनका "इधर" उपलब्ध होना है, शुक्लजी की संकीर्णता नहीं।

द्विवेदीजी ने जहां शुक्लजी के मत की चर्चा की है, वहां यह भी उन्हें लिखना चाहिये था कि शुक्लजी ने जैन कवियों को जैन होने के नाते "सामान्य साहित्य" से बाहर नहीं रखा।

द्विवेदीजी के बांके आक्रमण की एक और मिसाल देखिये। "हिन्दी साहित्य की भूमिका" में लिखते हैं

"कभी-कभी यह शंका की गई है कि हिन्दी-साहित्य का सर्वाधिक मौलिक और शक्तिशाली अंश अर्थात् भक्ति साहित्य मुसलमानी प्रभाव की प्रतिक्रिया है और कभी कभी यह भी बताने का प्रयत्न किया गया है कि निर्गुणिया सन्तों की जाति पात की विरोधी प्रवृत्ति, अवतारवाद और मूर्ति पूजा के खंडन करने की चेष्टा में 'मुसलमानी जोश' है।" (पृ० २२८)। इन सब बातों को "भ्रममूलक" बताते हुए द्विवेदीजी आगे कहते हैं "हम आगे चलकर देखेंगे कि निर्गुण मतवादी सन्तों के केवल उग्र विचार ही

भारतीय नहीं हैं, उनकी समस्त रीति-नीति, साधना, वक्तव्य वस्तु के उप स्थापन की प्रणाली, छन्द और भाषा पुराने भारतीय आचार्यों की देन हैं।" (उप० पृ० २८)।

यहाँ पर द्विवेदी जी ने कबीर आदि सन्तों और योगियों के मौलिक भेद भुलाकर भारतीयता के जोश में उनकी समस्त रीतिनीति, साधना आदि की प्रणाली तक को पुराने भारतीय आचार्यों—सिद्धों और जोगियों की देन घोषित कर दिया है। यद्यपि उन्होंने स्वयं दिखलाया है कि कबीर ने योगियों की किस तरह खिल्ली उड़ाई है, फिर भी "मुसलमानी जोश" का खण्डन करने के लिये उन्होंने कबीर आदि को कनफटे जोगियों का जरूरत से ज्यादा देनदार बना दिया है।

यह 'मुसलमानी जोश' का टुकड़ा है कहाँ का? द्विवेदी जी ने उसका उद्गम न बताते हुए उल्टे कौमा लगाकर कहीं से उसके उद्धृत होने का संकेत कर दिया है। यही आक्रमण का बांकापन है।

शुक्लजी ने अपने इतिहास के पृ० ८५ पर कबीर के सिलसिले में लिखा है : "इनका लक्ष्य एक ऐसी सामान्य भक्ति-पद्धति का प्रचार था जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों योग दे सकें और भेदभाव का कुछ परिहार हो। बहुदेवोपासना, अवतार और मूर्तिपूजा का खण्डन मुसलमानी जोश के साथ करते थे और मुसलमानों की कुरबानी (हिंसा), नमाज, रोजा आदि की असारता दिखाते हुए ब्रह्म, माया, जीव, अनहदनाद सृष्टि, प्रलय आदि की चर्चा पूरे हिन्दू ब्रह्मज्ञानी बनकर करते थे। सारांश यह है कि ईश्वर-पूजा की उन भिन्न बाह्य विधियों पर से ध्यान हटाकर, जिनके कारण धर्म में भेदभाव फैला हुआ था, ये शुद्ध ईश्वर-प्रेम और सात्त्विक जीवन का प्रचार करना चाहते थे।"

"मुसलमानी जोश" के टुकड़े का मूल निवासस्थान यह है। शुक्लजी कबीर की दाद देते ही रह गये कि उन्होंने धार्मिक भेदभाव हटाकर सात्त्विक जीवन का प्रचार किया था; शुक्लजी के आलोचकों ने यह तलाश कर लिया कि कबीर ने मुसलमानी जोश में आकर हिन्दू धर्म के बाह्याचारों

का खण्डन किया। यानी शुक्लजी के अनुसार कबीर ने धार्मिक भेदभाव दूर किया, इस्लामी भेदभाव के प्रभाव से। एक उलटवासी यह भी रही।

क्या यह भी लिखना जरूरी है कि "मुसलमानी जोश के साथ" का मतलब है, कबीर ने मूर्तिपूजा का खण्डन इस दृढ़ता से किया है, मानों किसी दूसरे धर्म—इस्लाम—का मानने वाला उसका खंडन कर रहा हो? और इसके बाद "कबीर" में द्विवेदी जी ने सिद्धों और योगियों के चिंतन की लम्बी चर्चा करने के बाद कबीर को उन्हीं सिद्धों और योगियों के दर्शन से मुक्त कहा है और उनकी साहसिकता का कारण मुस्लिम परिवार में उनका पाला जाना बताया है। द्विवेदी जी कहते हैं "मुस्लिम धर्मसाधना से उनका सम्बन्ध नाममात्र को ही था। पर मुसलमान वंश में प्रतिपालित होने के कारण उनमें एक प्रकार का साहसिक भाव आ गया था और उस दार्शनिक तर्क-जाल से वे मुक्त थे जो उनके पूर्ववर्ती सिद्धों और योगियों को अभिभूत किये हुए था। इसीलिये वे सहज बात को सहज ढङ्ग से—बिना अपर पक्ष की कल्पना किये—कह सके थे। यह मुस्लिम परिवार में पालित होने का उत्तम फल था।" (पृ० १३६)।

कबीर की साहसिकता की दाद दीजिये। कबीर के सहृदय समालोचक द्विवेदीजी की साहसिकता की दाद और भी दिल खोलकर दीजिये। क्या ही अच्छा हो कि साहसिकता का विकास करने के लिये इस तरह के लालन-पालन की व्यवस्था करदी जाय। धन्य है द्विवेदी जी को कि उन्होंने एक ओर तो निर्गुणिये संतों की "समस्त रीतिनीति, साधना, वक्तव्य वस्तु के उपस्थापन की प्रणाली" को योगियों और सिद्धों की देन कहा, दूसरी ओर कबीर जैसे प्रमुख निर्गुणिये सन्त को उन्होंने योगियों और सिद्धों के तर्कजाल से मुक्त बताया, एक ओर उन्होंने शुक्लजी के "मुसलमानी जोश" के कल्पित अर्थ का तीव्र खंडन किया, दूसरी ओर कबीर की साहसिकता को मुस्लिम परिवार में पालित होने का उत्तम फल बताया।

साराश यह कि नाथपंथी योगियों और बज्रयानी सिद्धों की जीवन-विमुख विचारधारा के बारे में शुक्लजी की स्थापनाएं सत्य हैं। शुक्लजी

ने सन्त-साहित्य का विवेचन करते हुए धार्मिक संकीर्णता का परिचय नहीं दिया वरन् हिन्दुओं-मुसलमानों को मिलाने वाली निम्न वर्गों में आत्मगौरव का भाव जगाने वाली उसकी भूमिका को पूरी तरह स्वीकार किया है। सन्त-साहित्य की महत्ता नाथपंथी योगियों से प्रभावित होने में नहीं है वरन् जनता को उनके प्रभाव से मुक्त करने में है। शुक्लजी की स्थापनाओं का खण्डन करने के इच्छुक विद्वान् उलटबाँसियों में फँस गये हैं और धर्म और नस्ल के आधार पर संस्कृति का मूल्याङ्कन करते हुए वैज्ञानिक आलोचना से दूर चले गये हैं।

हिन्दी आलोचना की प्रगति के लिये सन्त-साहित्य में योगियों की भूमिका के सम्बन्ध में शुक्लजी की सही स्थापनाओं और उनसे अलग भ्रान्त धारणाओं का इतिहास काफी शिक्षाप्रद है।

ढूंढना। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों बातें भारतीय भक्तिमार्ग में पूरा मेल खाने वाली नहीं थीं।" अन्य भक्तों की तरह जायसी पर भी हठयोगियों और नाथपंथियों का प्रभाव नगण्य है।

जायसी के अध्ययन के सम्बन्ध में दूसरी समस्या उन पर सूफी मत के प्रभाव की है।

सूफी मत के बारे में शुक्लजी कहते हैं "जायसी मुसलमान थे इससे उनकी उपासना निराकारोपासना ही कही जायगी। पर सूफी मत की ओर पूरी तरह झुकी होने के कारण उनकी उपासना में साकारोपासना की सी ही सहृदयता थी।"

शुक्लजी ने यहाँ सूफी कवियों की सहृदयता की ओर संकेत किया है। वह जायसी की सहृदयता का कारण उन पर सूफी मत का प्रभाव समझते हैं। सूफी मत की सहृदयता का कारण उन्होंने आर्य-संस्कारों का पुनरुत्थान माना है। लिखा है "सूफियों के अद्वैतवाद ने एक बार मुसलमानी देशों में बड़ी हलचल मचाई थी। ईरान, तूरान आदि में आर्य्यसंस्कार बहुत दिनों तक दबा न रह सका। शामी कट्टरपन के प्रवाह के बीच भी उसने अपना सिर उठाया।"

शुक्लजी यहाँ एक क्षण के लिये अपना यह सिद्धान्त भूल गये हैं कि साहित्यिक गतिविधि का स्रोत जनता की सामाजिक परिस्थितियों में ढूंढना चाहिए। सूफीमत या उससे मिलती जुलती प्रवृत्तियों का स्रोत शामी और आर्य जातियों के संस्कारों में न खोजकर विभिन्न देशों की सामाजिक परिस्थितियों में खोजना ज्यादा उचित होगा। यदि हम यह मानलें कि जहाँ भी सहृदयता मिले, वह आर्यसंस्कार के कारण है और जहाँ भी कट्टरता मिले, वह शामी संस्कार के कारण, तो बात ही दूसरी है। भारत में ही भक्तों ने जो प्रेम मार्ग अपनाया, वह भी एक प्रकार की कट्टरता का विरोध करने के लिये था। यह कट्टरता सामन्तों और उनके धार्मिक सहयोगियों की थी। उसके विरुद्ध जनता का पक्ष लेने वाले और समानता, भाई चारे और प्रेम की भावनाओं को व्यक्त करने वाले ये भक्त कवि थे।

यहूदियों की धर्म-गाथाओं में एक ओर जहाँ धार्मिक कट्टरता मिलती है, वहाँ दूसरी ओर प्रेम के सरस गीत भी मिलते हैं। यूनानियों में जहाँ सुकरात को जहर देने वाले लोग थे, वहाँ अनेक रचनाओं में—यद्यपि हर जगह नहीं—अफलातून जैसे प्रेम के व्याख्याकार थे। प्रसाद जी ने "रहस्यवाद नाम" के निबन्ध में दिखाया है कि एक ओर भारत में संसार को दुख का कारण मानने वाले लोग थे, तो दूसरी ओर आनन्दवाद के पंथ पर चलने वाले भी थे।

शुक्लजी का मत है कि यहूदी ईसाई और मुस्लिम धर्मों में अद्वैतवाद ने रहस्यवाद का रूप लिया लेकिन "भारतवर्ष में तो यह ज्ञान क्षेत्र से निकला और अधिकतर ज्ञान क्षेत्र में ही रहा; पर अरब, फारस आदि में जाकर वह भावक्षेत्र के बीच मनोहर रहस्य भावना के रूप में फैला।"

क्या यह आश्चर्य की बात न होगी कि अद्वैतवाद कट्टर शामी जातियों के बीच तो मनोहर रहस्य भावना बनकर फैला और सहृदय आर्यों के देश भारत में जहाँ उसका जन्म हुआ था, वह शुष्क ज्ञान-क्षेत्र की चीज ही बना रहा ? प्रसादजी ने रहस्यवाद नाम के निबन्ध में शामी जातियों की एक दूसरी विशेषता दिखाई है और वह यह कि वे मनुष्य को ईश्वर का उपासक अथवा दास मानते थे। इसलिये मंसूर को अनलहक कहने पर सूली पर चढ़ा दिया गया। सरमद को भी प्राणदण्ड मिला। "सेमेटिक धर्म भावना के विरुद्ध चलने वाले ईसा मंसूर और सरमद आर्य अद्वैत धर्म भावना से अधिक परिचित थे।" फिर भी सौलोमन का गीत, जो प्रेम और सौन्दर्य का मधुर काव्य है, यहूदियों का ही रचा हुआ था। इससे सिद्ध होता है कि आर्य और शामी नस्लों के आधार पर दार्शनिक और धार्मिक प्रवृत्तियों की सही व्याख्या नहीं हो सकती।

प्रसादजी ने दिखलाया है कि जब "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" के अनुसार यहाँ एकेश्वरवाद की स्थापना हो रही थी, तब आत्मवाद (आनन्द-वाद) भी यहाँ पल्लवित हो रहा था। उनके मत से वरुण एकेश्वरवाद के प्रतिनिधि थे और इन्द्र आत्मवाद के। यदि यह बात सही है तो एकेश्वरवाद

भारत की अपनी वस्तु है और उतनी ही पुरानी है जितना कि ऋग्वेद और आनन्दवाद भी उतना ही पुराना है वरन् उससे भी पुराना है और प्रसाद जी के अनुसार भारतीय चिन्तन की मूल धारा है।

शुक्लजी ने एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद में अन्तर दिखलाया है। उनका कहना है कि एकेश्वरवाद स्थूल देववाद है और अद्वैतवाद सूक्ष्म आत्मवाद या ब्रह्मवाद है। "बहुत से देवी-देवताओं को मानना और सबके बड़े दादा एक बड़े देवता (ईश्वर) को मानना एक ही बात है।" इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत न होगा कि शुक्लजी स्वय स्थूल देववादी न थे, उन्हें न तो अनेक देवी-देवताओं में विश्वास था, न उन सबके "दादा एक बड़े देवता" में। वह अद्वैतवादी थे और "अद्वैतवाद का मतलब है कि दृश्यजगत् की तह में उसका आधार-स्वरूप एक ही अखंड नित्य है और वही सत्य है।" शुक्ल जी में और भौतिक अद्वैतवादियों में अन्तर यह है कि भौतिकवादी ससार को नित्य-परिवर्तनशील और विकासमान मानते हैं और सत्य उसकी तह में न होकर ससार की भौतिक एकता ही में होता है।

सूफियो का दृश्यजगत् के बारे मे क्या कहना है? शुक्लजी के अनुसार "दृश्यजगत् के नानारूपो को उसी अव्यक्त ब्रह्म के व्यक्त आभास मानकर सूफी लोग भावमग्न हुआ करते हैं।" अद्वैतवादियो, निर्गुण ब्रह्मवादियों और योगियों से उनका यह महत्वपूर्ण भेद है। जो ससार को माया समझता है, वह उस माया में भावमय होकर सत्य का साक्षात् करने की आशा नहीं कर सकता। जायसी ने ससार को माया कहा है जो उन्हें भारतीय वेदान्त के निकट ले आता है। "साथ ही जगत् को दर्पण कहना, नामरूपात्मक दृश्यों को प्रतिबिम्ब या छाया कहना यह सूचित करता है कि अचित को ब्रह्म तो नहीं कह सकते, पर है यह उसी रूप की जिस रूप मे यह जगत् दिखाई पड़ता है।" योग और वेदान्त से जायसी का यह अन्तर ध्यान देने योग्य है। जगत् ब्रह्म का ही दर्पण है, जगत् के दृश्य उसी ब्रह्म के रूप के प्रतिबिम्ब हैं और जायसी को जितना प्रेम इस दर्पण से है, रूप के प्रतिबिम्ब से है, उतना परोक्ष रूप से नहीं।

शुक्लजी ने अद्वैतवाद के दो पक्ष बतलाये हैं। एक पक्ष आत्मा और

परमात्मा की एकता है, दूसरा पक्ष ब्रह्म और जगत् की एकता का है। उनका मत है कि साधना-क्षेत्रों में सूफियों और पुराने ईसाई-भक्तों की दृष्टि पहले पक्ष पर रहती हैं लेकिन "भावपक्ष में जाकर सूफी प्रकृति की नाना विभूतियों से भी उसकी छवि का अनुभव करते आए हैं।" कहने के लिये प्रकृति की नाना विभूतियों से ब्रह्म की छवि का अनुभव किया जाता है; वास्तव में ब्रह्म के बहाने अनुभव किया जाता है प्रकृति की नाना विभूतियों का ही।

कोई भी जनवादी आन्दोलन—वह चाहे सांस्कृतिक हो, चाहे राजनीतिक—भौतिकवाद की ओर किसी न किसी प्रकार झुके बिना रह नहीं सकता। इस तरह के आन्दोलन जनवादी इसीलिये होते हैं कि वे जनता की वास्तविक आवश्यकताओ के आधार पर उठ खड़े होते हैं। इन आवश्यकताओं पर तरह-तरह के सांस्कृतिक आवरण पड़े होते हैं लेकिन उनकी वास्तविकता पहचानना कठिन नही होता। क्या पूर्व में क्या पच्छिम में शासकवर्ग ने संसार को मिथ्या कहकर जनता का ध्यान वास्तविक समस्याओं से हटा कर कल्पित परोक्ष की ओर लगाने की चेष्टा की लेकिन अनेक देशो और विभिन्न युगों में ऐसे विचारक और कवि भी उत्पन्न हुए जो उस कल्पित परोक्ष को अस्वीकार न करके किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष जगत् का महत्व भी स्वीकार करते रहे। शुक्लजी ने १६ वीं सदी में, पच्छिम के देशों में, पैन्थीज्म या सर्ववाद के उत्थान की बात कही है। इस पैन्थीज्म का आधार ब्रह्म और जगत् की एकता थी। शुक्लजी पच्छिम के देशों में इसके उत्थान का जिक्र करते हुए बतलाते है : वहाँ इसकी ओर प्रवृत्ति स्वातंत्र्य और लोकसत्तात्मक भावो के प्रचार के साथ ही साथ दिखाई पड़ने लगी।" यह बात आकस्मिक नहीं है कि जिन कवियों ने स्वाधीनता और लोकसत्तावाद का प्रचार किया उन्ही ने ब्रह्म और जगत की एकता भी घोषित की। इसका कारण यह था कि स्वाधीनता और लोक सत्तावाद का प्रचार जनता की वास्तविक समस्याओं पर निर्भर था; उन वास्तविक समस्याओ से दिलचस्पी रखने के कारण कवियो ने अंशतः भौतिकवाद की ओर भी झुकाव दिखाया।

जायसी ग्रन्थावली की इसी भूमिका में शुक्लजी भारतीय भक्तों के बारे में कहते हैं : "जिसे यह जगत् प्रिय नही, जो इस जगत् के छोटे बड़े

सबसे सद्भाव नहीं रखता, जो लोक की भलाई के लिये सबकुछ सहने को तैयार नहीं रहता, वह कैसे कह सकता है कि ईश्वर का भक्त हूँ।" शुक्लजी ने इस तरह की भक्ति अपनी ओर से मध्यकालीन सन्तो पर आरोपित नहीं की थी। सन्त-साहित्य एक जनवादी सांस्कृतिक आन्दोलन था। उसका आधार सामन्ती अत्याचार से पीड़ित जनसाधारण की मुक्तिकामना थी। उस पर निर्गुण ब्रह्मवाद—यानी यह संसार मिथ्या है, इस धारणा—का प्रभाव होते हुए भी उसका झुकाव इस संसार को सत्य समझने की ओर भी था। शुक्लजी उन थोड़े से आलोचकों में हैं जिन्होंने संसार का प्रिय होना भक्ति का एक लक्षण माना है। तुलसी की इस उक्ति से शुक्लजी की धारणा का समर्थन होता है

"झूठो है झूठो है झूठो सदा जग संत कहत जे अंत लहा है।
ताको सहै सठ संकट कोटिन काढ़त दंत करत हहा है।
जानपनी को गुमान बड़ो तुलसी के विचार गंवार महा है।
जानकी जीवन जान न जान्यो तो जान कहावत जान्यो कहा है॥"

इसी तरह जायसी ने "पद्मावत" के आरम्भ ही में ईश्वर की स्तुति करते हुए कहा है

"दीन्हेसि रसना औ रसभोगू। दीन्हेसि दसन जो बिहसै जोगू॥
दीन्हेसि जग देखन कहँ नैना। दीन्हेसि स्रवन सुनै कहँ बैना॥
दीन्हेसि कंठ बोल जेहि माहीं। दीन्हेसि कर पल्लौ बर बाहीं॥
दीन्हेसि चरन अनूप चलाहीं। सो जानइ जेहि दीन्हेसि नाहीं॥"

ईश्वर ने नेत्र संसार देखने को दिये हैं, बन्द करने के लिये नहीं। जिसके पास हाथ पैर नहीं हैं, वही उनका महत्व जानता है। इसी तरह "आखिरी कलाम" में जायसी ने लिखा है

"दीन्हेसि नयनजोति उजियारा। दीन्हेसि देखै कहँ संसारा॥
दीन्हेसि स्रवन बात जेहि सुनै। दीन्हेसि बुद्धि ज्ञान बहु गुनै॥"

इससे पता चलता है कि जायसी का दृष्टिकोण जीवन को अस्वीकार करने का नहीं है वरन् उसे स्वीकार करने का है। इसलिये शुक्लजी की यह स्थापना बिल्कुल सही है कि सच्चे भक्त को यह जगत् प्रिय होता है।

रहस्यवादी साधना या भावना से किसी नये सत्य का उद्घाटन होता है, इस पर शुक्लजी को विश्वास नहीं है। उनका मत है कि "रहस्यभावना किसी विश्वास के आधार पर चलती है, विश्वास करने के लिये कोई नया तथ्य या सिद्धान्त नहीं उपस्थित करती। किसी नवीन ज्ञान का उदय उसके द्वारा नही हो सकता। जिस कोटि का ज्ञान या विश्वास होगा, उसी कोटि की उससे उद्भूत रहस्य-भावना होगी।" शुक्लजी का दृष्टिकोण एक बुद्धिवादी विचारक का है। वह रहस्यवादियो के लम्बे चौड़े दावों पर विश्वास नहीं करते। रहस्यवादी लौकिक ज्ञान को क्षुद्र बताकर अपने को "पहुँचा हुआ" घोषित करते हैं। शुक्लजी बुद्धि की पहुँच से परे इस परोक्ष-प्रेम और ज्ञान के साक्षात्कार पर विश्वास नहीं करते। जो ज्ञान या विश्वास रहस्यवादियो को पहले से होता है, वही उन्हें साधना, इलहाम, प्रेम के आवेश में भी दिखाई देता है।

शुक्लजी उपनिषदो को भारतीय ज्ञानकाण्ड का मूल मानते हैं। इस ज्ञान को वह ऋषियों की अलौकिक दर्शन-शक्ति का परिणाम नही मानते वरन् "बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया द्वारा" ही उस ज्ञान का उदय मानते हैं। "बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया"—ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं। न तो ईश्वर ने विशेष कृपा करके ऋषियों को परोक्ष सत्ता का अलौकिक ज्ञान करा दिया था, न ऋषियो ने भावावेश, योग द्वारा या अपनी किसी अलौकिक प्रतिभा द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। हमारे यहाँ ऐसे लोगो की कमी नहीं जो उपनिषदों के ज्ञान को अलौकिक, ऋषियों के चिन्तन को बुद्धि से परे मानते हैं। शुक्लजी ने इस तरह के चमत्कारवाद का विरोध करके वैज्ञानिक ढंग से भारतीय ज्ञान को बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया का परिणाम समझने का मार्ग प्रशस्त किया है। कहना न होगा कि जब तक उपनिषद् और अन्य प्राचीन ग्रन्थ इस तरह के चमत्कारवाद से मुक्त नही होते, तब तक उनका सही मूल्याङ्कन करके उनकी विरासत को जनता की सांस्कृतिक निधि नहीं बनाया

प्रेमतत्व दिखाई दे—काव्य में परोक्ष सत्ता के प्रति प्रेम दिखाया जाय—वहाँ उसे सूफीमत की देन माना जाय। शुक्लजी ने भक्त-कवयित्री अन्दाल का जिक्र किया है। उस पर सूफीमत के प्रभाव की कोई सम्भावना न थी, वह आठवीं सदी की भक्त बताई गई है। शुक्लजी ने अन्दाल की यह उक्ति उद्धृत की है "अब मैं पूर्ण यौवन को प्राप्त हूँ और स्वामी कृष्ण के अतिरिक्त और किसी को अपना पति नहीं बना सकती।" मीरा की उक्तियों से इसकी समानता तुरत देखी जा सकती है। शुक्लजी ने वैष्णव कवियों से उसकी तुलना भी की है "पति या प्रियतम के रूप में भगवान् की वैष्णव भक्ति-मार्ग में 'माधुर्य भाव' कहते हैं। इस भाव की उपासना में रहस्य का समावेश अनिवाय और स्वाभाविक है।" इस तरह भक्तों का माधुर्य भाव भारतीय चिन्तन और भावना का स्वाभाविक विकास दिखाई देता है। लेकिन इतना सब कह देने के बाद भी शुक्लजी ने वैष्णव कवियों में इस माधुर्य भाव के लिये सूफीमत को उत्तरदायी ठहराया है।

शुक्लजी का कहना है कि भारतीय भक्तों में माधुर्य भाव का अधिक प्रचार नहीं हुआ और जो हुआ, वह सूफियों के प्रभाव से। वह लिखते हैं "भारतीय भक्ति का सामान्य स्वरूप रहस्यात्मक न होने के कारण इस 'माधुर्य भाव' का अधिक प्रचार नहीं हुआ। आगे चलकर मुसलमानी जमाने में सूफियों की देखा देखी, इस भाव की ओर कृष्ण भक्तिशाखा के कुछ भक्त प्रवृत्त हुए। इनमें मुख्य मीराबाई हुई जो 'लोक लाज खोकर' अपने प्रियतम श्री कृष्ण के प्रेम में मतवाली रहा करती थीं।"

और भी—"चैतन्य महाप्रभु में सूफियों की प्रवृत्तियाँ साफ झलकती हैं।"

कबीर, दादू आदि के बारे में कहते हैं "निर्गुणशाखा के कबीर, दादू आदि सन्तों की परम्परा में ज्ञान का जो थोड़ा बहुत अवयव है वह भारतीय वेदान्त का है, पर प्रेमतत्व बिल्कुल सूफियों का है। इसमें से दादू दरिया साहब आदि तो खालिस सूफी ही जान पड़ते हैं। कबीर में 'माधुर्य भाव' जगह जगह पाया जाता है।"

यदि माधुर्य-भाव का प्रसार चैतन्य महाप्रभु, कबीर, मीरा आदि सगुण-

निर्गुण ब्रह्म के उपासकों तक है, तब यह कहना कहाँ तक ठीक हो सकता है कि माधुर्य-भाव का अधिक प्रचार नही हुआ ? शुक्लजी जिसे माधुर्य-भाव कहते हैं, उसका व्यापक प्रभाव उत्तर भारत के कवियो पर—दक्षिण के कवियों को छोड़ भी दें तो—दिखाई देता है। जैसा कि स्वयं शुक्लजी ने दिखलाया है, इसकी जड़ें प्राचीन भारतीय चिन्तन में मिलती हैं। अपने इतिहास में उन्होंने श्रीमद्भागवत का जिक्र भी किया है। उसके प्रभाव से माधुर्य-भाव फैलता हुआ बतलाया है। इसलिये यह मानना होगा कि शुक्ल जी ने माधुर्य-भाव और प्रेमतत्व के लिये जगह-जगह जो सूफीमत को उत्तर-दायी ठहराया है, वह सही नहीं है। उनकी इस धारणा का खण्डन उन्हीं की अनेक स्थापनाओ से हो जाता है।

अब देखना चाहिये कि जायसी किस कोटि के सूफी थे और उनके प्रेम-मार्ग पर सूफीमत का कितना प्रभाव है। जायसी सैयद अशरफ के शिष्य थे, यह उन्होंने लिखा ही है। अपने को "गुरु मोहिंदी" का सेवक भी कहा है। यह भी सही हो सकता है कि अपने समय में वह एक सिद्ध फकीर माने जाते थे।

जायसी के परोक्ष-प्रेम की विशेषताएं क्या हैं ? विरह की अग्नि में सूर्य चन्द्र जलते दिखाई देते हैं। अग्नि, पवन आदि तत्व उसी परोक्ष प्रिय तक पहुँचने के लिये उत्सुक दिखाई देते हैं। सृष्टि में जो सौन्दर्य दिखाई देता है वह भी उसी परम सौन्दर्य की झलक मालूम पड़ता है। सृष्टि के विभिन्न पदार्थ अपने गुणो का विकास करते हुए उसी की ओर पहुँचने की इच्छा रखते हैं। संक्षेप में, शुक्लजी के अनुसार, जायसी के प्रेम का यही आलौकिक पक्ष है। प्रेम के ये तत्व भारत में पहले से विद्यमान थे, यह शुक्लजी की ही स्थापनाओं में हम ऊपर देख चुके हैं। इसके साथ ही यह भी सही है कि ईरान आदि देशो के सूफी कवियों ने प्रेम के जो आलंबन चुने हैं, अपनी कविता के लिये साकी, मैखाना, शराब गुल, बुलबुल आदि के जो प्रतीक चुने हैं, वे जायसी में नहीं मिलते। इसके विपरीत "उत्तर भारत में, विशेषतः अवध में, "पद्मिनी रानी और हीरामन सूए" की कहानी अब तक प्रायः उसी रूप में कही जाती है जिस रूप में जायसी ने उसका वर्णन किया

है। इसी प्रकार 'बाला लखन देव' आदि की और रसात्मक कहानियाँ अवध में प्रचलित हैं जो बीच-बीच में गा-गाकर कही जाती हैं।" इसलिये जायसी में सूफीमत के तत्व ढूंढने से पहले अवध की जनसंस्कृति के तत्व ढूंढना ज्यादा लाभदायी होगा। शुक्लजी की यह धारणा बिल्कुल सही है कि "जायसी ने प्रचलित कहानी को ही लेकर, सूक्ष्म ब्योरों की मनोहर कल्पना करके उसे काव्य का सुन्दर स्वरूप दिया है।" शुक्लजी की इस धारणा का और विस्तार से अध्ययन करने की आवश्यकता है। वास्तव में समूचे भक्ति-साहित्य का इस दृष्टिकोण से बहुत कम अध्ययन किया गया है कि वह यहाँ की जनसंस्कृति का प्रतिबिंब है। जहाँ शुक्लजी ने जायसी आदि का अध्ययन करने के लिये बाहर के सूफीमत पर जोर दिया है, वहाँ इन कवियों में जनसंस्कृति की इस धारा का प्रभाव देखना भी उन्होंने हमें सिखाया है।

अब प्रश्न यह है कि जायसी मूलतः लौकिक प्रेम के कवि हैं या अलौकिक प्रेम के। जायसी ने "पद्मावत" के अन्त में चित्तौर को तन, राजा को मन, सुए को गुरु, नागमती को दुनिया धंधा, राघव को शैतान, अलाउद्दीन को माया आदि कहा है। श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने "हिन्दी साहित्य" में लिखा है "काव्य के अन्त में, 'तन चितउर मन राजा कीन्हा' जो संकेत है वह मूल ग्रन्थ का नहीं है। पद्मावत की प्राचीन प्रतियों से यह बात सिद्ध हो चुकी है।" जायसी का परोक्ष प्रेम "तन-चितउर" आदि पंक्तियों पर निर्भर नहीं है। द्विवेदीजी कहते हैं "परोक्ष-सत्ता की ओर संकेत करने का उत्साह जायसी में इतना अधिक है कि वे ऐसे प्रसंगों को मानो खोजते फिरते हैं जिनसे परोक्ष सत्ता की ओर इशारा करने का मौका मिल सके। यदि जायसी परोक्ष-सत्ता की ओर इतना अधिक संकेत करते हैं, तो यह माना जायगा कि उनका उद्देश्य अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति भी रहा है।

शुक्लजी के विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने प्रेम की लौकिकता पर जोर दिया है। रत्नसेन का घर से निकलना, माता और रानी का रोकर रोकना, पद्मावती का रसरंग, सपत्नी से कलह, राघव को पद्मावती का अपना कंगन देना—आदि घटनाओं का उल्लेख करने के बाद शुक्लजी कहते हैं "प्रेम

का लोकपक्ष कैसा सुन्दर है ! लोकव्यवहार के बीच भी अपनी आभा का प्रसार करने वाली प्रेम-ज्योति का महत्व कुछ कम नहीं।" शुक्लजी जायसी को इसके लिये बधाई देते हैं कि उसकी प्रेम-गाथा "पारिवारिक और सामाजिक जीवन से विच्छिन्न होने से बच गई।"

उन्हें "पद्मावत" की कमजोरी इसमें दिखाई देती है कि जायसी ने कहीं-कहीं परोक्ष और प्रत्यक्ष को मिलाने का प्रयत्न किया है। पद्मावती का रूप-वर्णन सुनकर रत्नसेन के मन में चाह पैदा होती है और अलाउद्दीन के भी। अन्तर इतना है कि अलाउद्दीन के लिये वह दूसरे की विवाहिता पत्नी है; रत्नसेन के लिये अविवाहिता थी। शुक्लजी इसे अस्वाभाविक समझते हैं और उसका कारण बतलाते हैं "लौकिक प्रेम और ईश्वर-प्रेम दोनों को एक स्थान तर व्यंजित करने का प्रयत्न।" इसी तरह रत्नसेन का नाम सुनने के पहले ही पद्मावती उसके वियोग में विकल हो जाती है जिसका कारण अलौकिक ही हो सकता है और वह कथा को कमजोर बनाता है।

नागमती का विरह-वर्णन, गोराबादल की बीरता आदि लोकजगत के व्यवहार हैं जिनके वर्णन के लिये शुक्लजी ने जायसी की प्रशंसा की है। जायसी के विप्रलम्भ शृङ्गार के वर्णन को उन्होंने अद्वितीय कहा है। इसी तरह बारहमासा आदि की उन्होंने प्रशंसा की है जिसका आधार जायसी के वर्णन की लौकिकता है। परिणाम यह निकलता है कि जायसी ने अलौकिक प्रेम का वर्णन अवश्य करना चाहा, किया भी, लेकिन उनकी महत्ता का कारण प्रेम की लौकिकता है, अलौकिता नहीं।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि जायसी की कथा में कुछ ऐसी मौलिक कमजोरियाँ हैं जो अलौकिक प्रेम का निर्वाह नहीं होने देतीं। पद्मावती यदि ब्रह्म है तो प्रश्न उठता है कि आत्मा से मिलने के लिये क्या ब्रह्म भी तड़पता है ? और रत्नसेन के मरने पर जब पद्मावती सती हो जाती है, तब क्या ब्रह्म भी आत्मा के लिये सती हो गया ? सतियाँ भी एक नहीं दो हैं। दोनों ही रत्नसेन से प्रेम करती हैं। यदि नागमती सांसारिकता है तो क्या वह भी ब्रह्म और जीव के साथ जल मरी ? और "चितउर भा इसलाम का" क्या अर्थ है, क्या शरीर पर इस्लाम की विजय हुई ? इस तरह की और भी कम-

जोरियाँ दिखाई जा सकती हैं।

वास्तव में जायसी प्रेम और शृङ्गार के कवि हैं। ये प्रेम और शृङ्गार मूलतः लौकिक हैं, उनके वर्णन का प्रभाव लौकिक है। उनका आधार मूलतः यहाँ की जनसंस्कृति है। जायसी के शृङ्गार-वर्णन में अनेक स्थानों में अत्युक्ति होने पर भी वह दरबारी कवियों की परम्परा से भिन्न है। शुक्लजी ने इसे अनेक बार स्पष्ट कर दिया है।

शुक्लजी ने जायसी में जिन चीजों को दोष माना है, वे बहुधा दरबारी कवियों की पद्धति से मिलती जुलती हैं जैसे वस्तुओं की गिनती। पद्मावती के समागम की कुछ पंक्तियों का अश्लील होना, पद्मावती और रत्नसेन का नीरस वाक्चातुर्य, "गूढ़बानी का दम भरने वाले सूफी-पंथियों के अनुकरण पर कुछ पारिभाषिक शब्दों की थिगलियाँ" जोड़ना, समुद्रका काल्पनिक वर्णन, सुकुमारता दिखाने के लिये अस्वाभाविक अत्युक्तियाँ, एक ही भाव और एक ही उपमा को बार-बार दोहराना—ये सब दोष ऐसे हैं जो बहुधा रीतिकालीन कवियों में मिलते हैं। सुकुमारता के बारे में अत्युक्तियों की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने बिहारी का हवाला दिया भी है। उन्होंने जायसी की आलोचना स्वाभाविकता, मानव-सुलभ सहृदयता की भूमि से की है। जहाँ जायसी ने कोरा चमत्कार दिखाने की कोशिश की है वहाँ शुक्लजी ने निडर होकर जायसी को दोषी ठहराया है। शुक्लजी का यह काय आलोचना-साहित्य में यथार्थवाद की प्रतिष्ठा करता है।

अपनी भूमिका के प्रारम्भ ही में शुक्लजी कहते हैं कि प्रेम की तरगें सभी हृदय में समान रूप से उठती हैं, प्रिय का वियोग सभी को व्याकुल करता है, माता का हृदय सभी जगह एक सा होता है। प्रेममार्गी कवियों ने "सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रखा", वे जीवन-दशाओं से परे असामान्य प्रेम का चित्रण करने के कारण प्रेम-मार्गी नहीं हैं वरन् उन्होंने "प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता" पूरी की।

शुक्लजी ने जायसी की महत्ता प्रकट करने के लिये अनेक स्थलों पर अन्य कवियों से उनकी तुलना की है। कबीर आदि निर्गुण-पंथियों से उन्हें श्रेष्ठ माना है। सापेक्ष दृष्टि से निर्गुण-पंथियों से सगुण-पंथियों ने मानव जीवन

का चित्रण ज्यादा अच्छा किया है। लेकिन हम देख चुके हैं कि निर्गुण-पंथी भी भक्त थे, उनकी भक्ति का आधार प्रेम था और शुक्लजी के ही शब्दों में वे निम्नवर्गों की जनता के आत्म-सम्मान को जगा चुके थे। जायसी की भूमिका में शुक्लजी ने निर्गुण पंथियों को कहीं-कहीं लोकविरोधी तक कह डाला है (उदाहरण के लिये पृ० १६४ पर)। यह उचित नहीं है; वह उन्हीं की स्थापनाओं के विरुद्ध बैठता है। शुक्लजी ने कबीर के बारे में जायसी की यह उक्ति उद्धृत की है :

"ना-नारद तब रोइ पुकारा। एक जोलाहे सों मैं हारा।
प्रेम तंत निति ताना तनई। जपतप साधि सैकरा भरई ॥"

इससे यही सिद्ध नहीं होता कि "कबीर को वे बड़ा साधक मानते थे" वरन् यह भी कि जायसी उनकी साधना का आधार प्रेम को ही मानते थे।

जायसी ने निराला पंथ निकालने का हौसला न किया हो, लेकिन उनकी पुस्तक को बहुत लोग धर्म-ग्रन्थ के समान ही मानते थे, यह जानी हुई बात है। मध्यकाल में जब सामाजिक संघर्ष बहुधा धार्मिक रूप लेते रहे हों, कबीर को निराला पंथ निकालने के लिये निंदित नहीं ठहराया जा सकता। कबीर के लिये शुक्लजी ने लिखा है—"उन्हें बाहर जगत में भगवान् की रूप कला नहीं दिखाई देती"; यह भी सही नहीं है और उसके विरुद्ध कबीर की पचीसों पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं।

लेकिन शुक्लजी ने जायसी को एक हद तक कबीर की परम्परा में रखा है, यह मानना होगा। उन्होंने अपनी भूमिका का आरम्भ ही इस वाक्य से किया है—"सौ वर्ष पहले कबीरदास हिंदू और मुसलमान दोनों के कट्टरपन को फटकार चुके थे। पंडितों और मुल्लाओं को तो नहीं कह सकते, पर साधारण जनता 'राम और रहीम' की एकता मान चुकी थी।" शुक्लजी की दृष्टि में इसी एकता के काम को जायसी आदि प्रेममार्गी कवियों ने और आगे बढ़ाया। रांगेय राघव आदि आलोचक शुक्लजी को ब्राह्मणवादी कहते हैं। इसका एक प्रमाण शुक्लजी द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता का समर्थन भी

मानना चाहिये।

श्री कमल कुलश्रेष्ठ "हिंदी प्रेमाख्यान काव्य" में शुक्लजी की उक्त स्थापना का विरोध करते हुए अपना यह मत प्रकट करते हैं कि जायसी आदि कवियों ने "प्रेमाख्यानों के द्वारा इस्लाम प्रचार की पृष्ठभूमि तैयार की।" उनका तर्क है कि इन कवियों के गुरू इस्लाम के प्रचारक थे और इन कवियों की "दृढ आस्था इस्लाम पर थी। "ये कवि कुरान को भी पुराना कहते थे क्योंकि इस तरह वे कुरान के लिये श्रद्धा उत्पन्न करवाना चाहते थे। अगर ये विद्वेष दिखलाते तो इनका भेद शीघ्र खुल जाता, "इस कारण उन्होंने समन्त सामजस्य एवं सहिष्णुता का जामा पहिन लिया था।" कहने का मतलब यह कि ये प्रेममार्गी कवि पूरे चारसौ बीस थे, अपने धर्म का प्रचार करने के लिये इन्होंने तरह-तरह के भेस बना लिये थे। कुलश्रेष्ठ जी इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि इनमें सामजस्य एवं सहिष्णुता के भाव हैं। लेकिन आखिर सहिष्णुता के भाव मुसलमानों में क्यों हों? सामजस्य की उदार भावना उनमें कैसे आ सकती है? इसलिए लेखक ने अपने ही शब्दों में "इस मौलिक दृष्टिकोण का उद्घाटन" किया है यद्यपि दुर्भाग्यवश वह "इसके पक्ष में अति प्रबल प्रमाण देने में असमर्थ है"!

दूसरी असमर्थता का दावा सही है लेकिन दृष्टिकोण को कुलश्रेष्ठजी से पहले श्री चन्द्रबली पाण्डेय और उनसे पहले श्री मैकडानल्ड पेश कर गये थे। श्री चन्द्रबली पांडेय ने "तसव्वुफ अथवा सूफीमत" में लिखा है—"श्री मैकडानल्ड ने ठीक ही कहा है कि इसलाम के प्रचार के लिये नीतिज्ञ दरवेश प्रांतीय प्रदेशों में जाते और अपनी उदारता तथा प्रेम के उपदेशों से कतिपय व्यक्तियों को मूड़ लेते थे।"

इसके विपरीत शुक्लजी की धारणा है कि "खलीफा लोगों के कठोर धर्म शासन के बीच भी सूफियों की प्रेममयी वाणी ने जनता को भावमग्न कर दिया।" मसूर जैसे लोगों ने जो सूली पायी, वह कट्टरता का विरोध करने के ही कारण। जायसी मुसलमान थे, इस्लाम में उनकी आस्था थी, इसमें कोई सदेह नहीं, जैसे सूर और तुलसी हिन्दू थे और राम और कृष्ण में

उनकी आस्था थी, इसमें कोई सन्देह नहीं। कबीर भी—जिन्होंने हिन्दुओं और तुर्कों को खूब खरी-खोटी सुनाई है—इस बात पर गर्व प्रकट करते हैं कि वह रामानन्द के चेले हैं और राम की बहुरिया हैं। कुलश्रेष्ठजी के तर्क के अनुसार कबीर भी रामानन्द के छिपे हुए दलाल थे और धार्मिक कट्टरता को फटकार कर वास्तव में हिन्दुओं की राम-भक्ति का प्रचार करना चाहते थे। वास्तविकता यह है कि ये सभी कवि हमारी जातीय संस्कृति के निर्माता हैं क्योंकि इनके चिन्तन और भावना का मूल तत्व प्रेम है। कुछ विद्वानों की समझ में यह बात नहीं आती, इससे हम समझ सकते हैं कि शुक्लजी अपने समय के कितने प्रगतिशील विचारक थे।

जो लोग शुक्लजी में एकाङ्गी समाजशास्त्री दृष्टिकोण देखते हैं (शिवदानसिंह चौहान आदि), उन्हें जायसी की भूमिका में पद्मावत के कलात्मक पक्ष का विवेचन ध्यान से पढ़ना चाहिए। शुक्लजी ने पद्मावत की कथावस्तु के गठन की इसलिये प्रशंसा की है कि "घटनाओं को आदर्श परिणाम पर पहुँचाने का लक्ष्य कवि का नही है।" उनका तर्क यह है कि कवि का वह लक्ष्य होता तो वह, राघव चेतन का बुरा परिणाम भी दिखाता। राघव चेतन का यह परिणाम न दिखाकर "संसार की गति जैसी दिखाई पड़ती है वैसे ही उन्होंने रखी है।" इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी कथावस्तु के कलात्मक निर्वाह को भी यथार्थवाद के आधार पर परखते हैं, उसके सौन्दर्य के लिये स्वाभाविकता की कसौटी मानते हैं। कथावस्तु में वह सम्बन्ध-निर्वाह की मांग करते हैं। कथा की घटनाएँ परस्पर सम्बद्ध होनी चाहियें। रामचंद्रिका जहाँ फुटकर पद्यों का संग्रह लगता है, वहाँ पद्मावत का प्रवाह खंडित नहीं है। पद्मावत में जो प्रासंगिक वृत्त हैं, वे भी मूलकथा के आश्रित हैं ? कथावस्तु के गठन का विवेचन करते हुए शुक्ल जी ने इस बात की सुन्दर मिसाल रखी है कि अरस्तू जैसे पाश्चात्य आलोचकों के काव्य-सिद्धान्तों को किस तरह रचनात्मक ढंग से भारतीय काव्य की आलोचना करते हुए लागू किया जा सकता है।

शुक्लजी ने जायसी की सरस भाषा, प्रभावशाली वर्णनशैली आदि की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। अनेक उदाहरण देकर उन्होंने जायसी की कला-

त्मक प्रतिमा का मर्म प्रकट किया है। कवि की भोली-भाली और प्यारी भाषा और उसकी स्वाभाविक उक्तियों की वह दाद देते हैं। केवल वर्णन का सहारा न लेकर जायसी जहाँ सौन्दर्य के प्रभाव का उल्लेख करके चित्र आँकते हैं, उसकी कई मिसालें देकर (बेनी छोरि झार जौ बारा आदि) शुक्लजी कहते हैं

"केशों की दीर्घता, सघनता और श्यामलता के वर्णन के लिये सादृश्य पर जोर न देकर कवि ने उनके प्रभाव की उद्भावना की है। इस छाया और अन्धकार में माधुर्य और शीतलता है, भीषणता नहीं।" शुक्ल जी के कलात्मक विवेचन का यह एक अच्छा उदाहरण है।

तुलसी की अपेक्षा जायसी में चरित्र-चित्रण की विविधता और सजीवता की कमी है, यह स्पष्ट ही है। जहाँ तुलसी की पहुँच "मनुष्य के सर्वतोमुख उत्कर्ष" तक है, वहाँ जायसी के पात्रों में व्यक्तिगत और वर्गगत विशेषताएँ उभर कर नहीं आईं। व्यक्ति और वर्ग की बात उठाकर शुक्लजी ने उसी यथार्थ की माँग की है जिसे अनेक दूसरे आलोचक "इण्डिविजुअल और टाइप की एकता" कहते हैं। शुक्लजी ने "पद्मावती" के पात्रों के विवेचन में इसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से काम लिया है। चरित्र-चित्रण स्वाभाविक हुआ है, इतना न कहकर उन्होंने रत्नसेन को एक आदर्श प्रेमी और राजपूत योद्धा के रूप मे देखा है। जायसी द्वारा उसके चित्रण का विश्लेषण करते हुए उन्होंने उसके जातिगत स्वभाव और प्रेमी के व्यापक रूप-दोनों की छानबीन की है। इसी तरह पद्मावती में उसकी "व्यक्तिगत दूरदर्शिता और बुद्धिमता" तथा उसके "स्त्री सुलभ प्रेमगर्व और सपत्नी के प्रति" ईर्ष्या का उल्लेख किया है। जायसी ने पद्मावती के सती होने का वर्णन किया है और उसमें प्रेम की अनन्य परिणति भी देखी है। कबीर ने भी ईश्वर-प्रेम की तुलना सती से की है। शुक्लजी साधारणत स्त्री-पुरुष के लिये एक ही नियम मानते हैं, इसलिये सती होने को-आदर्शरूप में पेश करना उन पर पुराने सस्कारों का प्रभाव समझना चाहिये। उन्होंने जायसी के अलकारों का विवेचन करके दिखाया है कि अलकारो से उसका भाव सौन्दर्य कैसे बढता है। अलकारों की लम्बी सूची देकर वह उसी दोष के भागी हुए

हैं जो उन्होंने जायसी में देखा था।

शुक्लजी ने जायसी की भाषा को उचित ही ठेठ अवधी कहा है। ठेठ पूरबी अवधी के शब्दों का व्यवहार जायसी ने तुलसी से भी ज्यादा किया है। यह मत प्रकट करने के बाद शुक्लजी ने उसके कलात्मक परिणामों पर विचार किया है। तुलसी में भाषा-सौन्दर्य की विविधता है, जायसी में "अवधी की खालिस, बेमेल मिठास" है।

यह कहना असंगत न होगा कि भाषा की यह स्थानीयता जायसी की सीमित लोकप्रियता का एक कारण है।

शुक्लजी ये जायसी की वाक्य रचना पर भी विचार किया है; उनकी भाषा को "केशव के अनुयायी" "फुटकलिये कवियों की भाषा से" स्वच्छ और व्यवस्थित बतलाया है। फिर भी न्यूनपदत्व आदि वाक्यदोष भी दिखलाये हैं जिनसे अनेक स्थानों पर जायसी दुरूह हो गये हैं।

इस तरह शुक्लजी ने भाषा, कथावस्तु, गठन, चरित्र चित्रण, अलंकार-योजना आदि पर विचार किया है और उन पर एकाङ्गी समाजशास्त्री आलोचक होने का आरोप झूठा साबित होता है। शुक्लजी का दृष्टिकोण एकाङ्गी नहीं है, वह कलापक्ष पर भी बल देता है। वास्तव में उन्होंने जायसो आदि कवियों में जो जातीय संस्कृति के तत्व ढूंढ़े हैं, उन्हें जिस तरह व्यापक मानवता का कवि कहा है, वह शुक्लजी के आलोचकों को पसन्द नहीं है।

शुक्लजी ने यह भूमिका केवल साहित्य के विद्यार्थियों के लिये नहीं लिखी। उसमें जायसी के भूगोल, ज्योतिष, इतिहास आदि की जानकारी की चर्चा उन सब लोगों के लिये भी शिक्षाप्रद होगी जो भारत के सांस्कृतिक इतिहास से दिलचस्पी रखते हैं।

शुक्लजी ने जायसी की भूमिका लिखकर हिन्दी साहित्य के इतिहास को और शृङ्खलाबद्ध किया, हमारे सांस्कृतिक इतिहास के ज्ञान को और समृद्ध किया। उन्होंने कबीर के समान जायसी को हिन्दू-मुस्लिम एकता और व्यापक मानववाद का कवि माना। जायसी आदि को साम्प्रदायिक भावना से परखने वालों का उन्होंने खंडन किया। उन्होंने इन प्रेम-मार्गी

कवियो के लिये दावा किया कि वे रीति-कालीन कवियो से श्रेष्ठ हैं। यथार्थवाद की भूमि से उन्हो ने जायसी का मूल्याङ्कन करके उर्दू-हिन्दी दोनो की दरबारी कविता की अस्वाभाविकता दिखलाई और जायसी को मानवसुलभ प्रेम का कवि घोषित किया। उन्हो ने जायसी का यह उद्देश्य बतलाया कि अलौकिक प्रेम का चित्रण करें लेकिन उन्हो ने अपने विवेचन से जायसी के लौकिक प्रेम के चित्रण पर बल दिया और उसी के लिये उनकी महत्ता स्वीकार की। शुक्लजी निर्गुणपथ को सगुणपथ के बराबर प्रगतिशील न मानते थे। इसलिये कहीं-कहीं कबीर आदि पर उन्होंने ऐसे आक्षेप भी कर दिये हैं जो सही नहीं माने जा सकते। सूफीमत के प्रभाव को आंकते हुए कहीं-कहीं उन्हो ने यहीं की मूल धाराओ का महत्व कम करके आका है। फिर भी यह सही है कि शुक्लजी ने प्रेम-तत्व और माधुर्य-भाव की भारतीय पृष्ठभूमि का उल्लेख किया है और जायसी के मूलाधार जनसस्कृति के तत्वो की ओर भी सकेत किया है। इस कारण यह भूमिका न केवल जायसी को समझने के लिये वरन् समूचे मध्यकालीन साहित्य के विकास को समझने के लिये बहुत सहायता देती है। उसमें भाषा-सम्बन्धी विवेचन, साहित्यिक सिद्धान्तो की चर्चा और शुक्लजी के व्यक्तित्व की छाप उसे उनकी श्रेष्ठ आलोचनाकृति बना देते हैं।

भक्ति का विकास और सूरदास

"भक्ति का विकास" शुक्लजी के श्रेष्ठ दार्शनिक निबन्धों में से है। मध्यकालीन साहित्य की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि समझने के लिये इसे अनिवार्य पाठ्यसामग्री समझना चाहिये। यहाँ उन्होंने भारतीय भक्ति या प्रेम-मार्ग का ऐतिहासिक विकास दिखलाया है और प्राचीन धर्म और दर्शन को समझने के लिये एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी हमें दिया है। यद्यपि यह निबन्ध उनकी सूर-सम्बन्धी आलोचना के साथ छपा है,* फिर भी तुलसी कबीर आदि अन्य कवियों का अध्ययन करने के लिये वह समान रूप से आवश्यक है।

धर्म के अध्ययन में शुक्लजी का क्रान्तिकारी दृष्टिकोण इस बात में दिखाई देता है कि उन्होंने ईश्वर-सम्बन्धी मनुष्य की कल्पना को विकासमान स्वीकार किया है। ईश्वर और धर्म को समझने के लिये उन्होंने सामाजिक विकास के अध्ययन का रास्ता अपनाया है। उनका दृष्टिकोण एक बुद्धिवादी और समाजशास्त्रीका है, न कि रहस्यवादी कल्पनावादी और दार्शनिक का। मनुष्य की तमाम धारणाओं की तरह उसकी ईश्वर-सम्बन्धी धारणा

---

* सूरदास, लेखक आचार्य रामचन्द्रशुक्ल, सम्पादक विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बनारस, तृतीय संस्करण।

का भी एक इतिहास है। शुक्लजी ने सबसे पहले आदिम असभ्य जातियों को लिया है। इनके उपास्य वनदेवता, ग्रामदेवता, कुलदेवता आदि होते हैं। ये देवता पूजा पाकर रक्षा और कल्याण करते हैं और पूजा न मिलने पर रुष्ट हो जाते हैं और अनिष्ट करते हैं। आदिम जातियों का मानव इसी जीवन में जो दुख-सुख पाता था, उसकी व्याख्या के लिये परोक्ष सत्ता की कल्पना करता था। इसलिये वन देवता, कुल-देवता आदि की पूजा का चलन हुआ। शुक्लजी कहते हैं "जो आदिम जातियाँ असभ्य या वन्यदशा में थीं उनकी परिमित भावना स्थानबद्ध या कुलबद्ध देवी-देवताओं तक ही रहती थी। वह इससे बड़े देवता की व्यापक भावना नहीं रखती थी।" यहाँ शुक्लजी ने देव सम्बन्धी मानव-कल्पना का आधार उसका सामाजिक जीवन बतलाया है। आदिम जातियों का मानव अलग-अलग कुलबद्ध या स्थानबद्ध देवताओं की कल्पना क्यों करता था, उसकी भावना व्यापक न होकर परिमित क्यों होती थी? शुक्लजी का उत्तर है कि यह असभ्य जातियों की वन्यदशा के कारण हैं।

शुक्लजी का दृष्टिकोण उन छायावादी कवियों से कितना आगे बढ़ा हुआ है जो विज्ञान का विरोध करने के लिये असभ्य जातियों के टोने-टोटकों, उनके परोक्ष-चिन्तन और तरह-तरह के अन्धविश्वासों को अलौकिक शक्ति का प्रमाण बतलाते हैं। इस तरह के कवि भारतीय संस्कृति की बहुत दुहाई देते हैं। शुक्लजी के दृष्टिकोण से उनकी धारणाओं का मिलान करने पर हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि इन लोगों की दुहाई विज्ञान का विरोध करने के लिये है, वास्तव में इन्हें भारतीय संस्कृति से प्रेम नहीं है वरन् आदिम जातियों के जादू-टोनों से सच्चा प्यार है। ये लोग वैज्ञानिक ढंग से प्राचीन संस्कृति का अध्ययन न कर पाने पर उसे भी जादू-टोनों के स्तर पर ले आते हैं।

शुक्लजी ने प्राचीन कुलदेवताओं आदि से यहूदियों के एकेश्वरवाद विकास दिखाया है। मूसाने एक साधारण कुलदेवता यहोवा में ही "सर्वज्ञता का का आरोप" किया और लालसमुद्र के पास बसने वाली जातियों में "कुल-देवता की भावना 'एकेश्वरवाद' (Monotheism) तक पहुँचाई गई।"

एकेश्वरवाद का इलहाम नहीं हुआ; कुलदेवता की भावना ही एकेश्वरवाद तक पहुँचाई गई। यह एकेश्वरवाद के ऐतिहासिक विकास की ओर संकेत है।

इधर भारत की जातियों ने सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि को उपास्य ठहराया था। ये शक्तियाँ उपकार भी करतीं थीं, अनिष्ट भी। "आगे चलकर उन सब देवताओं का तत्वदृष्टि से एक में समाहार करके 'ब्रह्मवाद' (Monism) की प्रतिष्ठा हुई।" ब्रह्म ने भी किसी को स्वप्न में दर्शन देकर अपनी सत्ता प्रकट नहीं की; ब्रह्मवाद की धारणा का भी ऐतिहासिक विकास हुआ। यह धारणा उन प्राकृतिक शक्तियों के "समाहार" से हुई जिनसे मनुष्य को उपकार और अनिष्ट की आशा और आशंका रहती थी। शुक्लजी ने "मोनिज़्म" और "मोनोथीज़्म" में भेद क्या है। उनके लिये ब्रह्मवाद और एकेश्वरवाद एक ही वस्तु नहीं है। इसका कारण यह है कि शुक्लजी संसार से परे स्वर्ग में रहने वाले, विश्व के नियामक किसी ईश्वर नाम की सत्ता पर विश्वास नहीं करते, उनका ब्रह्म इस वास्तविक जगत् से भिन्न नहीं है, विश्व के विभिन्न रूप एक ही सत्ता और शक्ति के रूप हैं, वह सत्ता या शक्ति उन रूपों से परे नहीं है।

शुक्लजी "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" वाले प्रसिद्ध वैदिक मन्त्र को उद्धृत करके बतलाते हैं कि "मंत्रकाल में ही अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र इत्यादि एक ही ब्रह्म के नाना रूप माने जा चुके थे।" शुक्लजी के दृष्टिकोण में और वेदों को अलौकिक मानने वालों के दृष्टिकोण में जो अन्तर है, वह स्पष्ट दिखाई देता है। अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र आदि ब्रह्म के अलग-अलग नाम नहीं हैं वरन् उसके अलग-अलग रूप हैं। इन अलग-अलग रूपों का "समाहार" करके ही ब्रह्म की धारणा का विकास हुआ।

अग्नि, वायु आदि प्रत्यक्ष जगत् की शक्तियाँ थी। मनुष्य अपनी जीवन-रक्षा में इनकी प्रत्यक्षभूमिका देखता था। उनके प्रत्यक्ष प्रभाव के आधार पर उसने उनके परोक्ष प्रभाव की भी कल्पना की। दैत्यों और दस्युओं का पराभव भी "उन्हीं के परोक्ष प्रभाव" का फल समझा जाता था और बाढ़, अकाल आदि का कारण भी "उन्ही का कोप समझा जाता था।"

कहना न होगा कि स्वय शुक्लजी बाढ़ या अकाल को किसी परोक्ष सत्ता के कोप का परिणाम नहीं समझते ।

मन्त्रकाल के बाद वह उपनिषत् काल को लेते हैं जब "एक ब्रह्म की भावना पूर्णता को पहुँची ।" ब्रह्म की 'भावना" का उत्तरोत्तर विकास हो रहा था । वह तैत्तिरीयोपनिषद् से यह उद्धरण देते हैं कि ब्रह्म की उपासना "अन्न, प्राण, मन, ज्ञान और आनन्द,' इन रूपों में करनी चाहिए । इस तरह की उपासना का अर्थ क्या है ? शुक्लजी के शब्दों में "अन्नोपासना ब्रह्म की अपनी अन्तस्सत्ता से बाह्य जगत् में देखने का विधान है । मन ज्ञान आदि के रूप में उपासना अपनी अंतस्सत्ता के भीतर देखने का विधान है । बाहर और भीतर दोनों ओर ब्रह्म को देखने पर ही पूर्णोपासना हो सकती है ।" इस तरह शुक्लजी ने अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् की एकता स्थापित की है । उनके लिये ब्रह्मवाद बाह्य जगत को अस्वीकार करना नहीं है, उसे माया, भ्रम, मिथ्या कहना नहीं है वरन् मनुष्य के मन, ज्ञान आदि और बाह्य जगत् की एकता स्वीकार करना है । शुक्लजी ने उपनिषदों के ब्रह्मवाद की जो व्याख्या की है, वह मायावादियों की व्याख्या से भिन्न है । उपनिषदों के इसी ब्रह्मवाद से उन्होंने भारतीय भक्ति-मार्ग का सम्बन्ध जोड़ा है । लिखा है, "भारतीय भक्ति-मार्ग में यही पूर्णोपासना की पद्धति गृहीत हुई है । इस मार्ग के भक्त केवल अपने मन के भीतर ही ब्रह्म को नहीं देखते बाहर भी देखते हैं ।" इसीलिये भक्तिमार्ग योगियों और मायावादियों के मार्ग से भिन्न है । शुक्लजी ने एकबार फिर भक्ति और योग का अन्तर दिखलाते हुए कहा है "केवल स्वान्तस्थ ब्रह्म की ओर उन्मुख योगमार्गियों की देखादेखी निर्गुणपंथी भक्त अलबत्त यह कहते पाये जाते हैं कि बाहर वह नहीं मिल सकता, अपने भीतर देखो ।" इन योगमार्गियों के विरुद्ध वह तुलसीदास की यह मार्मिक उक्ति रखते हैं :

"अन्तर्जामिहु तें बड़ि बाहरजामी हैं राम जो नाम लिये तें ।
पेज परे प्रहलादहु पै प्रगटे प्रभु पाहन तें न हिये तें ॥"

यदि कोई कहे कि वैज्ञानिक भौतिकवाद अपने को बाह्य जगत् तक सीमित

रखता है, इसलिये एकाङ्गी है, तो यह धारणा ठीक न होगी। वैज्ञानिक भौतिकवाद मनुष्य के अन्तर्जगत् को अस्वीकार नहीं करता; वह उसे बाह्य जगत् की ही प्रतिच्छवि मानता है। जैसा कि शुक्लजी ने रसमीमांसा में लिखा है : "ज्ञानेन्द्रियों से समन्वित मनुष्यजाति जगत् नामक अपार और अगाध रूप समुद्र में छोड़ दी गई है। न जाने कब से वह इसमें बहती चली आ रही है। इसी की रूप-तरंगों से उसकी कल्पना का निर्माण और इसी की रूपगति से उसके भीतर विविध मनोविकारों का विधान हुआ है।" (रस मीमांसा, पृ० २५६)। मनुष्य की कल्पना, भावों, मनोविकारों का विधान बाह्य जगत् द्वारा हुआ है, मनुष्य स्वयं इस वास्तविक जगत् का अङ्ग है, यही अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् को लौकिक एकता है।

भक्तों ने बहुधा ब्रह्म की उपासना विष्णुरूप में की। शुक्लजी अनेक भक्तों की तरह विष्णु को कोई वास्तविक देवता नहीं मानते वरन् कहते हैं : "इसी अन्नोपासना की पद्धति से ब्रह्म की भावना विष्णु रूप में प्रतिष्ठित हुई।" उपनिषदों की ब्रह्मोपसना का ही विकसित रूप विष्णु की उपासना है। विष्णु के रूप में भी परिवर्तन होता रहा है। पहले विष्णु सूर्य के प्रतीक थे; फिर "नरसमष्टि का आश्रय" लेकर "नराकार भावना" नारायण के रूप में हुई। शुक्लजी ने यहाँ यह प्रश्न उठाया है कि ब्रह्म की उपासना लोक-पाताल विष्णु के रूप में क्यों हुई। यहाँ संसार के प्रलय और नयी सृष्टि के सिद्धान्त के बदले शुक्लजी ने विश्व की नित्यता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। संसार में जन्म-प्रलय का क्रय बराबर चला करता है लेकिन इस क्रम का परिणाम विश्व की नित्य स्थिति है, उसका विनाश नहीं। लिखा है : "विश्व के भीतर असंख्य खंड प्रलय होते रहते हैं—न जाने कितने लोक नष्ट होते रहते हैं—पर समष्टि रूप में विश्व या जगत् बराबर चला चलता है।" विश्व को अनित्य कहने वालों के विपरीत शुक्लजी द्वारा यह उसके नित्यत्व की घोषणा है।

कठ, मुंडक आदि उपनिषदों से उद्धरण देकर शुक्लजी ब्रह्म के दो रूपों, सगुण और निर्गुण की धारणा का इतिहास बतलाते हैं। उपनिषदों में ब्रह्म को कहीं सगुण और व्यक्त कहा गया है और कही निर्गुण और

अव्यक्त। बहुत जगह उसे उभयात्मक भी कहा गया है। भारतीय भक्ति-मार्ग "यह उभयात्मक स्वरूप ग्रहण करके चला।" उसके लिये सगुण और निर्गुण "दोनों रूप नित्य और सत् हैं।"

लेकिन शुक्लजी इससे आगे बढ़कर कहते हैं कि सगुण और निर्गुण का यह भेद वास्तविक नहीं। सगुण निर्गुण की यह व्याख्या ध्यान देने योग्य है। "जहाँ तक ब्रह्म हमारे मन और इन्द्रियों के अनुभव में आ सकता है वहाँ तक हम उसे सगुण और व्यक्त कहते हैं। पर वहीं तक उसकी इयत्ता नहीं। उसके आगे भी उसकी अनन्त सत्ता है जिसके लिये हम कोई शब्द न पाकर निर्गुण, अव्यक्त आदि निषेध वाचक शब्दों का आश्रय लेते हैं।" प्राचीन दर्शन का अध्ययन करने के लिये यह सूत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार अव्यक्त या निर्गुण ब्रह्म इस दृश्य जगत् से भिन्न नहीं है वरन् उसी का वह क्रम है जिसे मनुष्य का सीमित ज्ञान अपने में समो नहीं पाया। जो अनुभव में आया, वह तो व्यक्त जगत् हुआ, जो अनुभव में नहीं आया, वह अव्यक्त ठहरा। इसलिए नेति नेति कहकर यह संकेत किया गया कि जितना अनुभव में आया, उतना ही सबकुछ नहीं है। इसीलिए "जिस सगुण और व्यक्त रूप की भक्त उपासना करता है वह असत्, भ्रम या मिथ्या नहीं है।

यदि अव्यक्त और निर्गुण वह विश्व है जो हमारे अनुभव में नहीं आया, तो उसके लिये ज्ञात विश्व से भिन्न नियमों की घोषणा नहीं की जा सकती। इसलिए शुक्लजी की यह स्थापना सही नहीं ठहरती, "व्यक्त और सगुण की नित्यता प्रवाह रूप है, अव्यक्त और निर्गुण की स्थिर।" यदि अव्यक्त वह विश्व है जो हमारे अनुभव में नहीं आया तो वह कैसे पता लगा कि वह स्थिर है। यदि ज्ञात और अज्ञात की एकता वास्तव में है तो क्या यह अधिक सम्भव नहीं कि ज्ञात विश्व की गतिशीलता का नियम अज्ञात विश्व पर भी लागू हो ?

"नेति नेति" की व्याख्या दो तरह से की गई। शुक्लजी के अनुसार जो विशुद्ध निर्गुणवादी थे, वे इसका अर्थ करने लगे कि जो कुछ व्यक्त और गोचर है, वह असत् और मिथ्या है लेकिन भक्ति-मार्गी उसका यह अर्थ

लगाते रहे कि ज्ञात विश्व ही सब कुछ नहीं है, उसके आगे भी है। उपनिषदों में ब्रह्म के लिये व्यक्ताव्यक्त शब्द का प्रयोग किया गया है। उसका अर्थ भी यह है कि "अव्यक्त की ही अभिव्यक्ति यह व्यक्त दृश्य जगत् है।" यह अभिव्यक्तिवाद भक्ति-मार्ग की विशेषता है। शुक्लजी के अनुसार वह सूफीमत से थोड़ा भिन्न है। सूफियों का प्रतिबिम्बवाद संसार को ब्रह्म की छाया कहता है जब कि अभिव्यक्तिवाद उसे ब्रह्म का ही प्रकाश कहता है। "अभिव्यक्तिवाद के अनुसार यह दृश्य जगत् भी ब्रह्म ही है। उसकी छाया नहीं।" इसके समर्थन में शुक्लजी ने गीता से श्रीकृष्ण की यह उक्ति उद्धृत की है कि जगत् में जो कुछ ऊर्जित और दिव्य दिखाई दे रहा है, वह मैं ही हूँ। इस पर शुक्लजी की टिप्पणी है : "इसका तात्पर्य यही है कि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है पर हमारा परिमित ज्ञान ऐसा है कि उसके गोचर होने योग्य ब्रह्मत्व हमें सर्वत्र नही दिखाई पड़ता।" सम्पूर्ण जगत् का ही दूसरा नाम ब्रह्म है। हमारा ज्ञान परिमित है। इसलिए उसके गोचर होने योग्य ब्रह्मत्व हमें सब जगह नहीं दिखाई पड़ता। गीता की उसी उक्ति पर शुक्लजी ने आगे चलकर एक बार फिर टिप्पणी की है : "इस वचन में इस बात का संकेत है कि उपास्य को बिलकुल परोक्ष रखकर उपासना करने की आवश्यकता नहीं। जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है अतः इसी में उपासना और भक्ति करने के लिये भगवान् की प्रत्यक्ष कला मिल जायगी।" शुक्लजी ने भागवत में "इसी तथ्य का स्पष्टीकरण" दिखलाया है; इन्द्र के बदले गोबर्धनादि की पूजा का यही रहस्य है। इसीलिये भक्ति-मार्ग में परोक्षता का "परिहार" किया गया। सूर आदि कवियो ने ब्रह्म को जो कहीं-कही त्रिगुणातीत कहा है, उसके बारे में शुक्लजी का कहना है कि वह भक्तों के हृदय की स्थायी वृत्ति नही। भक्त प्रकृति को ब्रह्म से अलग नहीं करता।

शुक्लजी के सारे विवेचन से यह बहुत ही स्पष्ट हो जाता है कि संसार सत्य है या मिथ्या—इस मूल प्रश्न पर उन्होंने बिना झिझके हुए यह मत प्रकट किया है कि यह संसार सत्य है। इस मत का इतिहास उन्होंने वेद और उपनिषदों का हवाला देकर दिखलाया है और इसी मत से उन्होंने भक्तिमार्ग का सम्बन्ध जोड़ा है। शुक्लजी का यह दृष्टिकोण मूलतः सही है,

वैज्ञानिक है और एकमात्र दृष्टिकोण है जिससे हम भारतीय दर्शन के प्रगतिशील तत्वों का उद्घाटन कर सकते हैं। शुक्लजी उन तमाम "आध्यात्मवादियों" के साथ नहीं हैं जो भारतीय चिन्तन की सबसे बड़ी और उसकी निजी विशेषता यह बतलाते हैं कि यह ससार को मिथ्या कहता है और परोक्ष को एकमात्र सत्य मानता है। भारतीय सस्कृति के नाम पर इस परोक्षवाद का खूब प्रचार हुआ। शुक्लजी ने दिखलाया है कि भारतीय सस्कृति और है जो ससार को मिथ्या नहीं मानती, जो परोक्ष की उपासना नहीं करती, जिसके लिये ब्रह्म इस सम्पूर्ण जगत् का ही दूसरा नाम है। शुक्लजी के विवेचन से यह भी पता चलता है कि यह धारा भारतीय सस्कृति की कोई हीन-क्षीण, अलग पड़ी हुई शुष्क, और निजाव धारा नहीं है। वह भारतीय सस्कृति की मौलिक प्रशस्त और सरस धारा है जिसके आधार पर भक्ति-आन्दोलन जैसा सशक्त सास्कृतिक आन्दोलन और सूर और तुलसी का सा लोकप्रिय साहित्य निर्मित हुआ।

बीसवीं सदी मे अनेक पच्छिमी विद्वानो ने परोक्षवाद, मायावाद आदि को भारतीय सस्कृति की विशेषता कहकर उसकी खूब दाद दी है। इससे उनका यह हित होता था कि भारतीय जनता जब ससार को ही मिथ्या समझती थी, तब अपनी स्वाधीनता के लिये, नये समाज के लिये और अपनी जातीय सस्कृति के उत्थान के लिये क्यों लड़ेगी। शुक्लजी के युग में रहस्यवाद का काफी प्रचार हुआ। बड़े-बड़े दार्शनिक कवि और राजनीतिज्ञ, पच्छिम के अनेक महिमा-मण्डित विद्वान् उसका समर्थन कर रहे थे। लेकिन शुक्लजी ने इन सब के सयुक्त मोर्च से आतकित न होकर दृढ़ता से अपनी धारणाए जनता के सामने रखीं, भारतीय साहित्य और देश के सास्कृतिक विकास को समझने का एक नया दृष्टिकोण दिया।

रहस्यवाद के प्रभाव के कारण बहुत से विद्वान् मध्यकालीन साहित्य मे विचारधाराओं के सघर्ष को समझने मे प्राय असमर्थ रहे हैं। उन्होंने मत-मतान्तरों के पेचदार विवेचन में इस मूल सघर्ष को भुला दिया है। ये दो विचारधाराए कौन सी थीं? एक विचारधारा ससार को मिथ्या समझने की थी, दूसरी उसे सत्य समझने की थी, ये विचारधाराए सदा ही बहुत स्पष्ट

रही हों, यह बात नहीं है। लेकिन उनका तत्व यही था, इसमें सन्देह नहीं। संसार को मिथ्या समझने वाली विचारधारा के नेता थे शंकराचार्य; संसार को सत्य समझने वाली विचारधारा के नेता थे, रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ। रामानुज आदि विचारकों में परस्पर मतभेद भी था लेकिन उन सभी का झुकाव मायावाद का विरोध करने की ओर था। भक्ति-आन्दोलन पर मुख्यतः इन्हीं विचारकों का प्रभाव था। शुक्लजी उनका उल्लेख करने के बाद कहते हैं: "इन सब आचार्यों का सामान्य प्रयत्न शंकराचार्य के मायावाद अर्थात् जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिषेध था।"

जगत् का मिथ्यात्व एक तरफ़ उसका प्रतिषेध दूसरी तरफ़; इन दो विचारधाराओं के संघर्ष को समझे बिना मध्यकालीन संस्कृति के विकास को समझना असम्भव है। यह बात आकस्मिक नहीं है कि भक्तकवियों ने मानव-जीवन, मानव-सम्बन्धो और मानव-स्वभाव के वे चित्र हमें दिये जो पहले के "ज्ञानी" अपनी कृतियों में न दे सके थे। इसका कारण यह था कि ये "ज्ञानी" परोक्ष के ज्ञानी थे, प्रत्यक्ष के अज्ञानी। सरस साहित्य की रचना मानव-जीवन और मानव-सम्बन्धों को भुलाकर नहीं हो सकती; किसी न किसी रूप में इन्हें सत्य मानकर ही वैसा साहित्य रचा जा सकता है। शुक्ल जी ने लगातार योग और मायावाद का विरोध करते हुए प्रत्यक्ष जगत् की सत्ता का प्रतिपादन करते हुए उपर्युक्त तथ्य को बहुत ही साफ़ सुथरे ढंग से हमारे सामने रखा है।

श्री वल्लभाचार्य पर अपने निबन्ध में शुक्लजी ने उसी स्थापना को दोहराया है: "यह सूचित किया जा चुका है कि रामानुज से लेकर वल्लभाचार्य तक जितने भक्त दार्शनिक या आचार्य हुए हैं सब का लक्ष्य शंकराचार्य के मायावाद या विवर्तवाद को हटाने का था जिसके भीतर उपासना या भक्ति अविद्या या भ्रान्ति ही ठहरती थी।"

इसी कारण सूर की गोपियों ने ज्ञानी ऊधो और उनकी निर्गुणब्रह्म की उपासना, योग आदि पर व्यंग्य किया है। मध्यकालीन कवियों के लिये "ज्ञानी" शब्द बहुत कुछ "मायावादी" का पर्याय हो गया था। इनका ज्ञान एक ओर दार्शनिक शब्दजाल में उलझा होता था, दूसरी ओर वह लोक-

जीवन मे अव्यवहार्य भी था। शुक्लजी "थाकी सीस सुनै व्रज को रे" आदि सूर की पंक्तिया उद्धृत करते हुए कहते हैं "ज्ञानमार्गी वेदान्तियों और दार्शनिकों के सिद्धान्तों की लोक ॥ अव्यवहार्य्यता तथा उनके बेडौल और भड़कीले शब्दों के अर्थों की अस्पष्टता और दुर्बोधता आदि की ओर गोपियों की यह झुँझलाहट कैसा संकेत कर रही है।"

सूर और तुलसी पर मायावाद का बिल्कुल असर न हुआ हो, यह बात नहीं है। उन पर उसका भी असर है लेकिन उससे उनकी मूल प्रवृत्ति कुंठित नहीं होती और वह मूल प्रवृत्ति मायावाद का प्रतिषेध है। शुक्लजी ने कबीर को इस धारा से प्राय बाहर रखा है लेकिन कबीर ने भी शुद्ध निर्गुणवाद का बहुत जगह विरोध किया है। इसलिये उन्हें इस धारा के बाहर रखना ठीक नहीं। कबीर और सूर दोनों ही जब ज्ञानियों पर व्यंग्य करते हैं तो उनके सामने ज्ञानियों के रूप म अक्सर योगी और मायावादी ही रहते हैं। सूर और कबीर की यह सामान्य दार्शनिक भूमि है।

कबीर कहते हैं "पाड़े न करसी बाद-बिवाद।
या देही बिन सबद न स्वाद॥"

"तन छूटे जिव मिलन कहत है, सो सब झूठी आसा।
अबहूँ मिला तो तबहूँ मिलेगा, नहिं तो जमपुर वासा॥"
"भीतर कहूँ तो जगमय लाजै, बाहर कहूँ तो झूठा लो।
बाहर-भीतर सकल निरंतर, चित्त अचित दोउ पीठा लो॥"
"घर में जोग भोग घर ही में, घर तज बन नहिं जावै।"
इत्यादि।

इन उक्तियों का आधार वही ब्रह्मवाद है जिसका शुक्लजी ने विवेचन किया है। इनसे मिलती जुलती सूर की बहुत सी पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं।

शुक्लजी ने उपनिषदों, गीता, भागवत आदि में ब्रह्मवाद का विवेचन करने के साथ-साथ "ज्ञान" प्राप्त करने के अलौकिक मार्गों का भी खण्डन किया है। उन्होंने योरप के रहस्यवादियों का विरोध किया है जो ज्ञान के लिये "बुद्धि-व्यवसाय से एक स्वतन्त्र साधन 'स्वानुभूति' (Intuition)

का प्रचार" करते रहे हैं। उन्होंने एडवर्ड कार्पेंटर का हवाला दिया है जिसने "वर्तमान समय की उस वैज्ञानिक प्रवृत्ति का विरोध किया है जिसमें बुद्धि क्रिया ही सब कुछ मानी गई है। उन्होंने फ्रान्सीसी दार्शनिक बर्गसों का उल्लेख किया है जिसने बुद्धि क्रिया को भ्रान्तिजनक बताकर स्वानुभूति (Intuition) की हिमायत की थी। उन्होंने उर्दू कवि अकबर की यह पंक्ति भी उद्धृत की है : मैं मरीजे होश था, मस्ती ने अच्छा कर दिया।

शुक्लजी ने इस तरह के अबुद्धिवाद का विरोध किया है। "बुद्धि-रोग से छुटकारा" पाने वालों के मुकाबले में उन्होंने यहाँ के भक्ति-मार्गियों को रखा है जिनकी ओर से "ज्ञान क्षेत्र की ऐसी अवहेलना नहीं हुई।" भक्ति ज्ञान-प्रसार के बाहर नहीं होती; जो ब्रह्म को जितना जानता है, उतनी ही उसकी भक्ति करता है।" रहस्यवाद नयाज्ञान पाने का मार्ग नहीं है। शुक्लजी पूछते हैं : "किसी रहस्यदर्शी भक्त ने आज तक कहीं तत्वज्ञान की कोई नई बात बताई है ?" रहस्यवाद जहाँ ज्ञान-प्राप्ति का साधन बनता है, वहाँ वह "एक झूठे खेल के सिवा और कुछ नहीं रह जाता।" ब्लेक आदि अंग्रेजी कवियों ने जो कल्पना की उड़ान भरी है, उसे शुक्लजी ने उचित ही ज्ञानोपलब्धि स्वीकार नहीं किया। रहस्यवादियों ने ईश्वर-समागम की दशा का जो वर्णन किया है, उसे शुक्लजी ने "चित्तविक्षेप" कहा है, उसकी तुलना उन अन्धविश्वासियों से की है जिनके सिर पर कोई भूत या देवता आ जाता है यह पुराना संस्कार कैसे अब तक चला आता है और रहस्यवादियों की "अनुभूति" में भी वह विद्यमान है, इस पर शुक्लजी कहते हैं : "इस दशा पर आस्था किसी प्राचीन दशा का संस्कार है जो किसी न किसी रूप में अब तक चलता है। उसी के कारण जैसा भूत-प्रेत, कुल देवता आदि का सिर पर आना, वैसा ही यह ईश्वर का सिर पर आना समझा जाता है।" कुछ लोगों को शुक्लजी का यह व्यंग्य अच्छा न लगेगा; महाज्ञानियों के प्रति ऐसे लोग शुक्लजी में आवश्यक श्रद्धा का अभाव देखेंगे। वे कहेंगे, शुक्लजी की आलोचना एकाङ्गी है, महाज्ञानियों का मखौल उड़ाती है, तर्क के बदले व्यंग्य और विद्रूप का सहारा लेती है। इस तरह की नुक्ताचीनी यही साबित करती है कि अवैज्ञानिक विचारधारा और तरह-तरह के अन्धविश्वासों के दिन

बीत रहे हैं। रहस्यवाद को फिर से जीवित नहीं किया जा सकता।

शुक्लजी भक्ति-मार्गियो के लिए कहते हैं "आज तक किसी भक्त महात्मा के सिर पर राम कृष्ण नहीं आये। हाँ! हनुमान जी अलबत्त कभी कभी भक्त मण्डली से उछल कर किसी किसी के सिर आजाया करते हैं।"

शुक्लजी भक्त की अनुभूति को अलौकिक नहीं मानते। जब ब्रह्म ही अलौकिक नहीं, तब उसकी अनुभूति अलौकिक कैसे होगी? उनके अनुसार भक्त की भावानुभूति की दशा वही है जिसे काव्य में रसदशा कहा गया है। अनेक रसशास्त्री जहाँ रसानुभूति को अलौकिक अनुभूति कहने लगते हैं, वहाँ शुक्लजी भक्तों की भावानुभूति को भी रस की स्वाभाविक अनुभूति के स्तर तक ले आते हैं। शुक्लजी कहते हैं "हमारे यहाँ भक्ति मार्ग में भक्त के आनन्द को स्पष्ट शब्दों में 'भक्ति रस' कहा है। रस की अनुभूति एक प्रकृतिर और स्वाभाविक अनुभूति है जो किसी प्रकार के उत्कृष्ट काव्य द्वारा भी हो सकती है। उसी प्रकार की अनुभूति भक्ति की भी मानी गई है।" इस तरह शुक्लजी ने भक्तो की अनुभूति को अलौकिक बन जाने से बचाया है, उसे रहस्यवादियों की अलौकिकता से भिन्न कोटि की कहा है। रसानुभूति को अनिर्वचनीय कहा गया है। और भक्ति रस भी अनिर्वचनीय है, लेकिन अनिर्वचनीयता का यह अर्थ नहीं है कि किसी अलौकिक तथ्य का ज्ञान प्राप्त हुआ और वह बताते नहीं बन पड़ा। शुक्लजी के अनुसार अनिर्वचनीयता का यह अर्थ है कि "जहाँ तक ब्रह्म ज्ञेय और व्यक्त है वहीं तक वह नहीं है, उसके परे भी जो कुछ है सब ब्रह्म ही है।"

रहस्यवाद मूलत विज्ञान-विरोधी है इसके विपरीत शुक्ल जी "विज्ञान के प्रसार से जो सूक्ष्म से सूक्ष्म, वृहत से वृहत् क्षेत्र मनुष्य के लिये खुलते जाते है" उन सब का काव्य मे उपयोग समझते हैं। उनकी शर्त यह है कि ये वैज्ञानिक तथ्य केवल अंग आभूषण आदि की उपमा के लिये काम में न लाये जायँ।

शुक्लजी के अनुसार भक्ति न तो रहस्यवाद का मार्ग है, न धर्मशास्त्रों का। पाप करने पर नरक जाना पड़ेगा, ईश्वर एक शासक है जो कर्मों का दण्ड देता है आदि धारणाओ को शुक्ल जी नहीं मानते। जो लोग यमराज के

डंडे के डर से इच्छा रहने पर भी बहुत से दुष्कर्म नहीं करते उन्हें शुक्ल जी नीची श्रेणी के धार्मिक कहते हैं। भक्त धर्म का यह पक्ष नहीं मानते। भक्त धर्म के शासनपक्ष और शास्त्रपक्ष का अवलंबन न करके उसके हृदय-पक्ष का अवलंबन करता है। बल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के लिये कहते हैं : अतः इस पुष्टिमार्ग में आने के लिये सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि लोक और वेद दोनों के प्रलोभनों से दूर हो जाय—उन फलों की आकांक्षा छोड़ दे जो लोक का अनुसरण करने से प्राप्त होते हैं तथा जिनकी प्राप्ति वैदिक कर्मों के संपादन द्वारा कही गई हैं।" जो लोग भक्त कवियों की रचनाओं में वेद शब्द देखते ही घबरा उठते हैं, उनकी रचनाओं को धर्मशास्त्र मान बैठते हैं, उन्हें इस वाक्य पर ध्यान देना चाहिए। ध्यान देने की बात यह भी है कि जब पुष्टिमार्ग में आने के लिये मनुष्य को लोक और वेद दोनों के प्रलोभन से दूर होना पड़ता है, तब कबीर ने ही धार्मिक कर्मकाण्डों की अवहेलना करके कौनसा अपराध किया था ? वास्तव में धार्मिक कर्मकांड के बदले प्रेममार्ग की स्थापना—यह सभी भक्तों के लिये थोड़े बहुत अन्तर के साथ सत्य है।

शुक्लजी पुष्टिमार्ग की चर्चा करते हुए कहते हैं : "पुष्टिमार्ग स्त्री-पुरुष द्विज-शूद्र सब के लिये खुला है। मनुष्यमात्र इसके अधिकारी हैं।...... भगवान् के प्रति जितना ही अधिक प्रेम होगा उतना ही लोक और वेद के प्रति आसक्ति कम होगी।" आजकल प्रगतिशील आलोचना भक्ति-आन्दोलन का जनवादी रूप स्पष्ट करती है; वह आन्दोलन किस तरह ऊंच-नीच का भेद मिटाकर मनुष्य मात्र को एक करने वाला है, यह शुक्लजी के विवेचन से भी स्पष्ट है। उसी लेख में शुक्लजी कहते हैं : "भक्ति में नीच-ऊंच, छोटे-बड़े बालक-वृद्ध इत्यादि का कोई भेद नहीं।" और यह स्थिति किसी एक संप्रदाय की नहीं है वरन् "भक्ति के व्यवहार क्षेत्र में तो यही स्थिति सगुण-निर्गुण, रामोपासक-कृष्णोपासक सब संप्रदायों की है।" यह स्थिति संतों की पुस्तकों तक सीमित नहीं है, वह "व्यवहार-क्षेत्र" की स्थिति है। यह स्थिति सगुण-निर्गुण, रामकृष्ण, सभी के भक्तों की है। इसका अर्थ यह हुआ कि सभी भक्त मूलतः मनुष्यमात्र की समानता के समर्थक थे, न केवल

कबीर, वरन् सूर-तुलसी आदि कवि भी ऊँचनीच की भावना से परे मानववादी साम्यभावना के प्रचारक थे। सत-साहित्य का अध्ययन इस तथ्य को पूरी तरह पुष्ट करता है।

शुक्लजी ने एक प्रश्न और उठाया है। व्यवहारक्षेत्र के बाहर इस साम्यभावना का क्या होता है? भक्ति के व्यवहारक्षेत्र के बाहर का अर्थ यही हो सकता है कि समाज के साधारण व्यवहार में—भक्ति की परिधि के बाहर—कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग का अस्तित्व स्वीकार किया जाय या नहीं। उन्होंने एक मिसाल दी है: "यदि हम पर कोई प्रहार या गालियों की बौछार करे तो क्षमा द्वारा शील की एकान्त साधना समीचीन होगी, पर यदि हमारे सामने कोई अत्यन्त क्रूर और निष्ठुर अत्याचारी किसी दीन या असहाय को पीड़ित कर रहा है तो बलपूर्वक उस अत्याचारी को रोकना और यदि आवश्यक हो तो उसे आघात द्वारा असमर्थ करना लोकधर्म होगा।" शुक्लजी सत्याग्रह-वादी नहीं हैं। वह अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध करने में विश्वास करते हैं। जैसा कि हम पहले अध्याय म देख चुके हैं, वह बहुत से कुतर्की पंडितों की तरह शाश्वत अहिंसा-धर्म का प्रश्न नहीं उठाते। उनके लिए क्या हिंसा है, क्या अहिंसा, यह परिस्थितियों पर निर्भर है। वह बलपूर्वक अत्याचारी को रोकने और आवश्यकता पड़ने पर उसे आघात द्वारा असमर्थ कर देने को अनुचित नहीं समझते। इस लोक धर्म से वह भक्ति का सामंजस्य चाहते हैं। उनके विचार से भारतीय भक्तों मे लोक-धर्म के साथ यह सामजस्य है और यह "उन्हें विदेशी पद्धति के निर्गुण भक्तों से अलग" करता है।

भक्त कवियों पर निष्क्रियता और भाग्यवाद की भी छाप है। सभी भक्त सभी समय सक्रिय प्रतिरोध की बात नहीं करते। मध्यकालीन असगठित सामाजिक जीवन मे ऐसा करना उनके लिए सभव नहीं था। मनुष्य के बिखरे हुए त्रस्त और पीड़ित जीवन से निराशा और वैराग्य के भाव भी पैदा होते थे। इसलिये अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध—इस लोक-धर्म के साथ जहाँ भक्ति का सामजस्य न बैठे उसे हम विदेशियों के सिर नहीं मढ सकते। स्वय शुक्लजी ने अपने इतिहास मे लिखा है—"अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भग-

वान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?" सूरदास की आलोचना में तत्कालीन समाज के बारे में शुक्लजी कहते हैं : "जनता पर गहरी उदासी छा गई थी ।" अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध का अभाव—या लोक-धर्म से विमुखता—का कारण यह उदासी और निराशा भी थी । भक्ति का यह भी एक स्रोत था । आज उदासी और निराशा का कोई वस्तुगत कारण नही है ; जो कारण थे, वे जनता के संगठन और संघर्षों से मिट रहे हैं । इसीलिये आज का कवि भक्त बनकर समाज की सेवा नही कर सकता; उसके लिये आवश्यक है कि वह उस लोक-धर्म से सामंजस्य स्थापित करे जिसका उल्लेख शुक्लजी ने किया है ।

शुक्लजी का विचार था कि यह निराशा और उदासी मुस्लिम शासन के कारण थी । देश में विदेशी जातियों का आक्रमण और उनका शासन भी एक कारण था । लेकिन वास्तविकता यह है कि सत्ता में सहायक और भाग लेने वाले देशी सामान्त भी थे, उन सामन्तों के देशी सहायक पांडे और पुरोहित भी थे । स्वयं शुक्लजी ने दरबारी कवियों को चुन चुन कर सुनायी हैं, उससे स्पष्ट है कि उनकी सहानुभूति देशरक्षा के इन ठेकेदारों के साथ न थी । फिर भी उनके विवेचन में देशी सामंतों की भूमिका हर जगह स्पष्ट नहीं है; इसलिये उन्होंने निराशा का कारण मुस्लिम शासन वताया है और लोक-धर्म से विमुख कवियों को विदेशी मतों से प्रभावित कहा है ।

शुक्लजी राम और कृष्ण की उपासना का महत्व यह समझते थे कि ये चरित्र अत्याचार का दमन करने वाले थे, इसलिये जनता में भी वीर भावों का संचार करने वाले थे । उन्हें महाभारत के कृष्ण भागवत के कृष्ण से अधिक प्रिय हैं । महाभारत के कृष्ण लोक-मंगल का साधन करने वाले थे, उनमें शक्ति, शील और सौन्दर्य तीनों का समन्वय था । लेकिन उनकी शिकायत यह है कि आगे चलकर कृष्ण के भक्तिमार्ग से कर्म पक्ष हटता गया । वह मुख्यतः प्रेम के आलंबन होकर रह गये । कृष्णभक्त ब्रजलीला तक अपने को सीमित रखने लगे । उनकी रचनाओ में, शुक्लजी के अनुसार, "जीवन के अनेक गम्भीर पक्षों के मार्मिक रूप" स्फुरित न हुए, न उनमें "अनेकरूपता" आई । शुक्लजी को यही शिकायत जायसी से भी थी । जायसी कृष्णभक्त न

थे लेकिन सूर की तरह वह भी प्रेम के कवि थे। इसलिए न तो सूर के प्रेम-गीतों का कारण यह हो सकता है कि लोग कृष्ण का वीर रूप भूल गये थे और न उन गीतों का यह परिणाम हो सकता था कि मुर्झाया हुआ हिन्दू जीवन फिर लहलहा उठा। यदि मुर्झाये हुए जीवन के लिए सूर के गीतों की आवश्यकता पड़ी तो यही कारण जायसी के काव्य का भी हो सकता था।

वास्तविकता यह है कि हिन्दू और मुसलमान जनसाधारण सामन्ती व्यवस्था से पीड़ित थे। दोनों धर्मों में प्रेम के गीत गाने वाले पैदा हुए क्योंकि उन प्रेम गीतों की उपज इसी सामाजिक भूमि से हो रही थी। जायसी की रचनाओं के पाठक मुसलमान भी थे, अधिकतर मुसलमान ही रहे हों तो भी अचरज नहीं, उनकी प्रसिद्ध कृति "पद्मावत" का बंगला में अनुवाद हुआ और वह बंगला के मुसलमानों को प्रिय रही। इससे यह परिणाम निकलता है कि जो लोग इस्लाम और हिन्दू धर्म की टक्कर में मध्यकालीन समाज की आशा-निराशा का स्रोत ढूंढते हैं, वे उस समय के साहित्यिक आन्दोलनों के सामाजिक आधार का सही-सही पता नहीं लगा सकते। जायसी और सूर एक ही समाज या एक से ही समाज के प्राणी थे। यह समाज ऐसा था जिसमें नये व्यापारी वर्ग की बढ़ती के साथ-साथ कारीगरों, जुलाहों और किसानों में मुक्ति की आकांक्षा बढ़ रही थी। हर सामन्ती समाज में पुरोहितों ने जनता को परलोक के लिये जीना, इस लोक के जीवन के दुखों का कारण अपने पापों में ढूंढना सिखाया है। जीवन की अस्वीकृति के विरोध में, सामन्ती शिकंजा जरा ढीला होने पर, जब जनता को सांस लेने का अवकाश मिला, तब उसने जीवन में अपनी आस्था प्रकट करना शुरू किया। उसने तरह-तरह के प्रतीकों द्वारा अपने हृदय के मानवसुलभ भावों को व्यक्त करना आरम्भ कर दिया। सूर और जायसी इस जीवन की स्वीकृत की वाणी हैं। इस वाणी को सामन्तों ने दबा रखा था, उस दबाव को तोड़कर ब्रज और अवध की धरती से यह प्रेम की सरस धारा फूट पड़ी। यह उसका सामन्त-विरोधी पक्ष है जिसे भुलाना सही न होगा।

शुक्लजी ने ठीक लिखा है "मनुष्यता के सौन्दर्यपूर्ण और माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर इन कृष्णोपासक वैष्णव कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग

जगाया, या कम से कम जीने की चाह बनी रहने दी।"

शुक्लजी ने सूर की कृष्णभक्ति का सम्बन्ध उचित ही जयदेव और विद्यापति से जोड़ा है। इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि उन्होंने सूर की कविता का सम्बन्ध व्रज की लोक-संस्कृति विशेषकर, वहाँ के लोक गीतों की परम्परा से जोड़ा है। जायसी के सम्बन्ध में हम देख चुके हैं कि मध्यकालीन कवियों के अध्ययन में शुक्लजी ने लोक-संस्कृति के प्रभाव का उल्लेख किया था। आलोचना में वह जिस यथार्थवादी और जनवादी दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा कर रहे थे, उसके अनुसार लोक-संस्कृति की ओर उनका ध्यान जाना ही चाहिए था। शुक्लजी ने सूर के गीतों पर लिखते हुए लोक-गीतों को किसी भी देश की मूल काव्य-धारा समझने के लिए प्रमुख साधन माना है। उनके ये वाक्य हिन्दी आलोचना के भावी विकास की दिशा बतलाते हैं: "किसी देश की काव्य धारा के मूल प्राकृतिक स्वरूप का परिचय हमें चिरकाल के चले आते हुए इन्हीं गीतो से मिल सकता है। घर-घर प्रचलित स्त्रियों के घरेलू गीतों में शृङ्गार और करुण दोनों रसों का बहुत स्वाभाविक विकास हम पाएंगे। इसी प्रकार आल्हा, कड़खा आदि पुरुषो के गीतों में वीरता की व्यंजना की सरल स्वाभाविक पद्धति मिलेगी। देश की अन्तर्वर्त्तिनी मूल भावधारा के स्वरूप के ठीक-ठीक परिचय के लिये ऐसे गीतों का पूर्ण संग्रह बहुत आवश्यक है।"

सूर की प्रतिभा से चकित होकर शुक्लजी ने लिखा है; "सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।"

सूर ही नहीं, उस समय के जितने महाकवि हुए हैं—तुलसी भी—उनका लोक-गीतो की परम्परा से गहरा सम्बन्ध रहा है। उनकी रचनाएं लोक-गीतों के इतने निकट हैं कि वे उनकी परम्परा का सहज विकास मालूम होती हैं। इतना ही नहीं, वे उस लोक-गीतों की परम्परा का अङ्ग भी बन गई है। इसका कारण यह था कि भक्त कवियों ने जनसंस्कृति को अपना आधार बनाया था; इसी आधार के कारण वे अपनी काव्यकला को ऐसा लोकप्रिय रूप दे सके लेकिन उनकी प्रतिभा का महत्व कम नहीं होता। उनकी श्रेष्ठ

रचनाओं का कलात्मक सौन्दर्य आमतौर से सुन्दर लोक-गीतों से बहुत ऊंचा है। उन्होंने लोक-गीतो को अपनाया लेकिन उस परम्परा का स्तर और ऊंचा किया, उसमें संस्कृत साहित्य के अध्ययन से लाभ उठाकर नया उत्कर्ष पैदा किया। सूर की रचनाएं ब्रज की संस्कृति, यहाँ के प्रचलित ग्रामगीतों, रीतिरिवाजो, जनता की विनोदप्रियता और वाक्चातुरी पर अवलंबित हैं। इन्हीं का निखरा हुआ सौंदर्य उनमें मिलता है। शुक्लजी ने इस सिलसिले में लोकगीतों का हवाला दिया, यह उनकी सूझबूझ का प्रमाण है।

शुक्लजी के अनुसार तुलसी के मुकाबले में सूर का काव्यक्षेत्र सीमित है लेकिन उनमें ऊंचे दर्जे की तन्मयता है। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में वह सूर को अद्वितीय कवि मानते हैं। तुलसी ने गीतावली मे जो बाललीला का वर्णन किया है, वह "इनकी देखादेखी", लेकिन बालसुलभ भावों की वह प्रचुरता तुलसी भी न ला सके। सूर तुलसी से भी ज़्यादा एक ही रस में नये प्रसंगों की उद्भावना करते हैं। इससे इतना तो मानना ही होगा कि शुक्लजी तुलसी के अंध भक्त नहीं हैं।

सूर के प्रेम का विश्लेषण करते हुए वह उसमें रूपलिप्सा और साहचर्य दोनों का योग दिखलाते हैं। जो बचपन के साथी हैं, वे आगे चलकर यौवनक्रीड़ा के सखासखी" हो जाते हैं। इस क्रमश: विकास के कारण गोपियों का प्रेम "स्वाभाविक" लगता है। सूर की गोपियाँ सजीव हैं, प्रेम ने उन्हें इतना जिन्दादिल कर दिया है कि "कृष्ण क्या, कृष्ण की मुरली तक से छेड़छाड़" करती हैं। शुक्लजी ने सूर की सहृदयता और भावुकता के साथ उनकी "चतुरता और वाग्विदग्धता (wit)" की भी तारीफ की है। काव्य की यह बौद्धिक प्रक्रिया बहुत से आलोचकों की आँखों से ओझल हो जाती है। सूर एक ही बात को तरह तरह के "टेढ़े सीधे ढंग" से कह सकते हैं। गोपियों के वचन वक्रता से भरे हैं।

> "निरखत अंक श्यामसुन्दर के बारबार लावति छाती।
> लोचन जल कागद मषि मिलि कै ह्वै गई श्याम श्याम की पाती।"

शुक्लजी ने इन पंक्तियों की व्याख्या करते हुए 'अङ्क' और 'श्याम'

शब्दों के श्लेष की तारीफ़ की है, सूर के "लाघव" और "मजमून की चुस्ती" की दाद दी है और यह बताना नहीं भूले कि केशवदास के ढंग पर सूर यही सब लिखते तो वह कितना बेतुका हो जाता। जगह-जगह दरबारी कवियों से सूर की विभिन्नता दिखाकर शुक्लजी ने मध्यकालीन साहित्य की दो धाराओं का अलगाव और विरोध प्रकट किया है। ये दो धाराएं कभी-कभी एक दूसरे को प्रभावित भी करती हैं; इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे दो अलग धाराएं नहीं हैं।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने "महाकवि सूरदास" में यह दिलचस्प सवाल उठायो है कि नायिकाभेदी शृङ्गारी कवियों और सूर जैसे भक्तों को दो अलग वर्गों में रखना क्या उचित है। उन्होंने लिखा है : "अब तक तो भक्त कवियों और शृङ्गारी कवियों को अलग-अलग कालों में डाल कर एक दूसरे से सम्पर्कविहीन रखने की व्यवस्था थी परन्तु अब ये प्रश्न भी निस्संकोच पूछे जाने लगे हैं कि सूर आदि भक्त थे, इससे क्या प्रयोजन ? क्या वे शृङ्गारी नहीं थे ? और जिन्हें आप शृङ्गारी कवि कहते हैं, उन्होंने भी तो राधा-कृष्ण का शृङ्गार-वर्णन किया है। फिर इनमें और उनमें अन्तर क्या है और क्यों न वे एक ही श्रेणी में रखे जायं ? सूरसागर की हस्तलिखित प्राचीन प्रतियो में नायिकाभेद के शीर्षक रखकर पद लिखे मिलते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूरदास हिन्दी में नायिकाभेद के प्राथमिक कवियों में हैं। इस विषय में अभी अनुसंधान की आवश्यकता है परन्तु जो तथ्य प्रकट हो रहे हैं और जिस स्वच्छन्द पथ पर हिन्दी का काव्य-विवेचन चल पड़ा है, उसे देखते हुए यह दृढ़ अनुमान है कि केवल-भक्त संज्ञा देकर ही सूर आदि की कोटि अन्य कवियों की कोटि से अलग नहीं की जा सकेगी। सूरदास भक्त थे या नही, यह तो इतिहास के विद्यार्थी के अनुशीलन का विषय है। बिहारी भक्त नही थे, यह भी हम में से कोई नहीं कह सकता। राजदरबार में रहने के कारण ही कोई शृङ्गारी अभक्त मान लिया जाय, यह कोई तुक की बात नहीं है।"

वाजपेयी जी ने "अब तक तो" भक्तों और शृङ्गारी कवियों को विभाजित रखने की जो बात कही है, उसमें अवश्य ही शुक्लजी का हाथ भी रहा

होगा। वास्तव में शुक्लजी ने शृङ्गारी और अशृङ्गारी का भेद नहीं किया। वह सूर को भक्तकवि मानते हैं, इसमें सन्देह ही क्या। लेकिन वह सूर को वात्सल्य और शृङ्गार का सबसे बड़ा कवि मानते हैं, यह भी हम ऊपर देख चुके हैं। इसलिये सूर बिहारी से इस कारण भिन्न नहीं हैं कि वह अशृङ्गारी कवि थे। मूल अन्तर दरबारी संस्कृति और जन-संस्कृति का है, दो तरह के सामाजिक आधार का है। दोनों के शृङ्गार-वर्णन में अन्तर यह है कि भक्त कवियों ने मानवसुलभ सौन्दर्य और प्रेम की भावना का चित्रण किया है, उनके भावचित्रण की भूमि स्वाभाविकता की है, दरबारी कवियो ने चमत्कार-वाद का सहारा लिया, उनकी पहुँच स्वाभाविक भावभूमि तक न हुई वरन् वे सामन्तो के कामोद्दीपन का सामान जुटाते रहे। वाजपेयी जी ने सूर को "वास्तविक भक्त" कहा है और परवर्ती कवियों की रचनाओं को "अनुकरण प्रिय प्रणालीबद्ध" कहा है। इससे भी दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इसलिये शुक्लजी ने जो केशव आदि कवियो को एक वर्ग में और सूर-तुलसी आदि को दूसरे वर्ग में रखा है, उनका परस्पर भेद दिखाया है, दरबारी कवियों की तुलना में भक्त कवियों की श्रेष्ठता का बखान किया है, वह कार्य बिल्कुल उचित है।

शुक्लजी ने सूर की भाषा को चलती ब्रजभाषा कहा है लेकिन यह भी जता दिया है कि वह "बिल्कुल बोलचाल की ब्रजभाषा नहीं है।" सूर की भाषा में पुराने रूपों, अपभ्रंश के शब्दों आदि का हवाला देकर शुक्लजी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उस समय "एक व्यापक काव्यभाषा" रही होगी। व्यापक काव्यभाषा रही हो, चाहे न रही हो, सूर की भाषा व्यापक अवश्य है। जायसी की सी अति-स्थानीयता उनमें नहीं है। जायसी की तुलना में उनकी अधिक लोकप्रियता का यह भी एक कारण है।

शुक्लजी को सूर-साहित्य पर कुछ आपत्तियाँ भी हैं। कहीं-कहीं सूर ने उपमानों को लेकर खेल किया है—अद्भुत एक अनूपम बाग आदि में। उन्होंने यह भी दिखाया है कि सूर-साहित्य समानरूप से सुन्दर नहीं है और सूर का प्रतिदिन गीत रचना इसका एक कारण बताया है। लेकिन उनकी मुख्य आपत्ति लोकसंग्रह के अभाव को लेकर है। उनका विचार है कि सूर

"अपने रंग में मस्त रहने वाले जीव थे", उनमें तुलसी के समान "लोकसंग्रह का भाव" न था और "समाज किधर जा रहा है, इस बात की ये परवा नही रखते थे।" उन्होंने कृष्ण का प्रेममयरूप ही लिया; चाहते तो वह "हृदय की अन्य वृत्तियों (उत्साह आदि) के रंजनकारी रूप भी" कृष्ण में पा सकते थे। कृष्ण का यह रूप एकदेशीय था। उन्होंने जिस प्रेम का वर्णन किया है, वह भी घटनापूर्ण नहीं है। शुक्ल जी को यह बात अस्वाभाविक लगती है कि कृष्ण के इतना निकट होते हुए भी गोपियाँ विरह में तड़पा करती हैं और चार कदम चल कर उनसे मिल नहीं आतीं। उन्हें इस पर भी आपत्ति है कि विरह से परेशान सिर्फ गोपियाँ है, कृष्ण नहीं। सूर में जीवन की अनेकरूपता का अभाव है, वह जीवन की गंभीर समस्याओं से तटस्थ हैं, "लोक-संघर्ष से उत्पन्न विविध व्यापारों की योजना सूर का उद्देश्य नहीं।" गोपियों के वियोग में सीता के वियोग की सी गंभीरता नहीं है। कृष्ण के चरित में जो थोड़ा बहुत लोकसंग्रह दिखाई देता है, उसमें "सूर की वृत्ति लीन नहीं हुई।" दैत्यों का संहार करनेवाला रूप सूर को प्रिय नहीं है। इस सिलसिले में सूर और तुलसी की तुलना करते हुए शुक्लजी लिखते हैं : "जिस ओज और उत्साह से तुलसीदासजी ने मारीच ताड़का खरदूषण आदि के निपात का वर्णन किया है उस ओज और उत्साह से सूरदासजी ने बकासुर, अघासुर, कंस आदि के वध और इन्द्र के गर्वमोचन का वर्णन नहीं किया है।"

शुक्लजी ने जीवन की अनेकरूपता चित्रित करने के लिये तुलसी को सूर से श्रेष्ठ कवि कहा है, वह ठीक है। यह भी सही है कि तुलसी ने राम के चरित में अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध का जो सजीव चित्र खींचा है, वह सूर में नहीं है। लेकिन सूर अपने समय की समस्याओं के प्रति तटस्थ थे और उनमें लोक-संग्रह का अभाव था, यह धारणा मान्य नहीं है।

सूर के कृष्ण दुर्योधन के यहां न जाकर विदुर के यहां शाक खाना पसंद करते हैं। "टूटी छानि, मेघ जल बरसै, टूटौ पलंग बिछाइयै।" कृष्ण को कनक-कलस वाले दुर्योधन के महल पसंद नहीं है, उन्हें अपना भक्त-दासी-सुत कहलाया जाकर अपमानित होने वाला विदुर पसंद है। सूर के कृष्ण

गोस्वामी तुलसीदास

शुक्लजी के कोई आदर्श हिन्दी कवि थे तो वह तुलसीदास थे। शुक्लजी की जिस रचना में सबसे ज्यादा असगतियाँ और अन्तर्विरोध हैं, वह तुलसीदास पर उनकी पुस्तक है। साथ ही तुलसी और उनके युग को समझने के लिये जितनी मौलिक स्थापनाए यहाँ हैं, उतनी हिन्दी की किसी भी दूसरी आलोचना-पुस्तक में नहीं हैं।

सबसे पहले शुक्लजी कबीर, सूर, जायसी, और तुलसी की एकता प्रतिपादित करते हैं। इस एकता का यह अर्थ है कि ये सब कवि एक ही सांस्कृतिक आन्दोलन के अङ्ग हैं जो केशव-बिहारी की दरबारी साहित्यिक धारा से भिन्न हैं। कबीर, सूर, जायसी और सूर की सामान्य विशेषताओं को समझना असभव है। इसीलिये शुक्लजी की यह स्थापना महत्वपूर्ण है "रामानन्द और वल्लभाचार्य ने जिस भक्तिरस का प्रभूत सचय किया, कबीर और सूर आदि की वाग्धारा ने उसका सचार जनता के बीच किया। साथ ही कुतुबन, जायसी आदि मुसलमान कवियों ने अपनी प्रबन्ध-रचना द्वारा प्रेमपथ की मनोहरता दिखाकर लोगों को लुभाया। इस भक्ति और प्रेम के रग में देश ने अपना दु ख भुलाया, उसका मन बहला।"

अपने अन्य निबन्धों की तरह शुक्ल जी ने यहाँ भी भक्ति और योग में

मौलिक अन्तर दिखलाया है। लेकिन योग पर उनका आक्रमण और निबन्धों से यहाँ ज्यादा सख्त है। भक्ति मार्ग जहाँ हृदय की स्वाभाविक अनुभूतियों को लेकर चलता है, वहाँ "योगमार्ग चित्त की वृत्तियों को अनेक प्रकार के अभ्यासों द्वारा अस्वाभाविक (एबनार्मल) बनाकर अनेक प्रकार की अलौकिक सिद्धियों के बीच होता हुआ अन्तःस्थ ईश्वर तक पहुँचना चाहता है।" भक्ति-मार्ग स्वाभाविकता की भूमिका पर निर्मित हुआ है तो योग मार्ग अस्वाभाविकता की भूमि पर। और इस अस्वाभाविक भूमि पर चलकर वह ईश्वर तक "पहुँचना चाहता है"; शुक्लजी यह नहीं कहते कि वह पहुँच जाता है। भक्ति मार्ग मूलतः योगवाद और मायावाद से हटकर और उसके विरोध में चला है; वह लौकिक जीवन से पराङ् मुख नहीं, वरन् उसकी ओर उन्मुख है। कबीर जायसी-सूर-तुलसी समाज की अनेक समस्याओं पर लिख सके और मानव-हृदय के विभिन्न भावों का चित्रण कर सके, इसका मूल कारण यही है कि वे चित्त-वृत्तियों के कवि हैं, चित्त-वृत्तियों के निरोधक नहीं। वे रसवादी हैं, योगवादी नहीं।

भक्तों के लिये ब्रह्म ज्ञात और अज्ञात दोनों हैं। जितना अज्ञात है, उसे तो वे भक्त दार्शनिकों के लिये छोड़ देते हैं और "जितना ज्ञात है उसी को लेकर" वे प्रेम में लीन रहते हैं। यह उक्ति अक्षरशः सही नहीं है। ज्ञात की ही उपासना होती तो दर्शन और मुक्ति की आकांक्षा भक्तकवियों में न होती। लेकिन जगत् के प्रति भक्तकवियों का आकर्षण जरूर प्रकट होता है; शुक्ल जी इस आकर्षण की हिमायत करते हैं, यह भी स्पष्ट है। वह आगे कहते हैं: "इस व्यवहार क्षेत्र से परे, नामरूप से परे जो ईश्वरत्व या ब्रह्मतत्व है वह प्रेम या भक्ति का विषय नहीं, वह चिन्तन का विषय है।" नामरूप की सीमाएं मानने वाला जगत् अगोचर नहीं होता। इसलिये भक्तिमार्ग इन्द्रिय-बोध को हेय ठहरा कर अतीन्द्रिय ज्ञान का दावा नहीं कर सकता। संसार में रहकर इन्द्रियबोध को अस्वीकार करना संभव नहीं; इसलिये भक्त-कवियों का झुकाव मायावाद, अतीन्द्रियतावाद, 'आइडियलिज़्म' से भिन्न वस्तुवाद, गोचर सत्ता में विश्वास की ओर होना ही चाहिये। शुक्लजी कहते हैं: "संसार में रहकर इन्द्रियार्थों का निषेध असम्भव है; अतः मनुष्य

को वह मार्ग ढू ढना चाहिये जिसमें इन्द्रियार्थ अनर्थकारी न हो। यह भक्ति-मार्ग है, जिसमें इन्द्रियार्थ भी मंगलप्रद हो जाते हैं।" गोचर जगत् की ओर यह झुकाव भक्ति-आन्दोलन की वह दार्शनिक विशेषता है जो उसे शासक-वर्गों के मायावादी चिंतन से अलग करती है।

भक्त कवि भारतीय मायावादियों से भी भिन्न हैं। वे यूरोप के उन कला-वादियों से भी भिन्न हैं जो ज्ञात जगत् को सीमित मान कर कल्पना का नया असीम संसार रचते हैं। ये लोग कल्पना को एक स्वतन्त्र शक्ति मानते हैं, लेकिन उनका कल्पित संसार न तो नया होता है, न मौलिक, वह वास्त-विक का "विकृत रूपमात्र" होता है। भक्तों का साहित्य लोकहित के लिये है, उनकी कला संसार से स्वतन्त्र न होकर जनता के मनोरंजन और शिक्षण के लिये है। इसलिये शुक्लजी तुलसीदास के लिये यह दावा करते हैं कि उनकी दृष्टि "वास्तविक जीवन-दशाओं के मार्मिक पक्षों के उद्‌घाटन की ओर थी, काल्पनिक वैचित्र्य विधान की ओर नहीं।" वास्तविक जीवन दशाओं का उद्‌घाटन—श्रेष्ठ भारतीय साहित्य का सदा से यह लक्ष्य रहा है। भारतीय साहित्य की सबसे शक्तिशाली और मौलिक धारा यथार्थवाद की ओर उन्मुख रही। यह साहस शुक्लजी ही में था जो उन्होंने भारतीय काव्य के लिये यह दावा किया "भारतीय कवियों की मूल प्रवृत्ति वास्त-विकता की ओर ही रही है।" यह एक ऐसा सूत्र है जिस पर बहुत कम लोगों ने विचार किया है, जिसके सहारे बहुत कम आलोचकों ने अपने प्राचीन साहित्य का मूल्याङ्कन किया है। पश्चिम के विचारकों ने यहाँ वालों को अक्सर यह पढ़ाया है कि तुम्हारी विशेषता तो परोक्ष चिन्तन में है, भारतीय ज्ञान इस झूठे संसार को ठुकराता है, उसने जिस अध्यात्मवाद की सृष्टि की है, वह विशद-दर्शन को भारत की अपूर्व देन है, इत्यादि। शुक्लजी ने इस धारणा का बारबार खंडन किया है। इसका खंडन करना आवश्यक है क्योंकि यह स्थापना भारतीय संस्कृति के प्रगतिशील तत्वों पर पर्दा डालती है, भारत को जगद्‌गुरू कहकर जनता को बहलाती है और उसे वर्तमान अन्याय और अत्याचार के सामने उदासीन और तटस्थ रहना सिखाती है।

यदि लोक सत्य है, यह मानव जीवन सत्य है, तो कवि-हृदय में लोक-हित और मानवहित का भी स्थान होना चाहिये। उनकी श्रेष्ठता इस बात में नहीं है कि वह परलोक की बातें करता है, लोकजीवन को उपेक्षा की निगाह से देखता है, न व्यक्तिवाद के तङ्ग दायरे में चक्कर लगाने से वह महाकवि बनता है। शुक्लजी उसकी विशेषता यह बतलाते हैं : "अपनी व्यक्तिगत सत्ता की अलग भावना से हटाकर निज के योग-क्षेम के सम्बन्ध से मुक्त करके, जगत् के वास्तविक दृश्यो और जीवन की वास्तविक दशाओं में जो हृदय समय-समय पर रमता रहता है, वही सच्चा कवि हृदय है। सच्चे कवि वस्तु-व्यापार का चित्रण बहुत बढ़ा-चढ़ाकर और चटकीला कर सकते हैं, भावों की व्यंजना अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँचा सकते हैं पर वास्तविकता का आधार नहीं छोड़ते।" जगत् के वास्तविक दृश्य जीवन की वास्तविक दशाएं भावों की व्यंजना में वास्तविकता का आधार—आलोचना में शुक्लजी के ये मूल सूत्र हैं। संसार के प्रति उनका दृष्टिकोण मूलतः वस्तुवादी है; ये सूत्र उसी का स्वाभाविक परिणाम हैं। इसीलिये शुक्लजी को हिन्दी आलोचना में यथार्थवाद का संस्थापक मानना उचित होगा। उनके अनुसार सच्चे कवियों द्वारा अङ्कित "वस्तु-व्यापार-योजना इसी जगत् की होती है; उनके द्वारा भाव उसी रूप में व्यंजित होते हैं जिस रूप में उनकी अनुभूति जीवन में होती है या हो सकती है।" कवि जो चित्र खींचता है, वे इसी जगत के होते हैं, वह जिन भावों की व्यंजना करता है, उनकी अनुभूति इसी जीवन की होती है या हो सकती है। लोक और साहित्य, सामाजिक जीवन और रस, भौतिकजगत् और भावजगत् की यही एकता है।

तुलसी के दार्शनिक विचारों की छानबीन करते हुए शुक्लजी काफी उलझन में पड़ गये हैं। उन्होंने माना है कि गोस्वामी जी ने कहीं-कहीं मायावाद स्वीकार किया है, कहीं-कहीं विशिष्टाद्वैत का आभास भी उन्होंने दिया है। जीव ईश्वर का अंश है, यह विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना हुई। शुक्ल जी अद्वैत और विशिष्टाद्वैत मतों को स्थापनाओ में इस तरह सामंजस्य कायम करते हैं : "परामर्श सिद्धि से—शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से—तो अद्वैत मत गोस्वामी जी को मान्य है, पर भक्ति के व्यावहारिक सिद्धान्त के अनुसार

भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं।" इससे स्वयं शुक्लजी को संतोष नहीं हुआ, इसलिये अन्त में उन्होंने यह भी लिख दिया है कि वह भक्ति-मार्गी थे, इसीलिये उनकी रचनाओं में भक्ति के रहस्य ढूंढना तो ठीक होगा, "ज्ञानमार्ग के सिद्धान्तों का ढूंढना नहीं।" इससे शुक्लजी की उलझन का पता चलता है। यदि भक्तकवि ज्ञात की ही उपासना करता है, तब यह प्रश्न नगण्य नहीं है कि वह क्या जानता है, किसकी उपासना करता है। इसलिये सवाल ज्ञानमार्ग के सिद्धान्त ढूंढने का नहीं है वरन् तुलसी के ज्ञात उपास्य को पहचानने का है जिसके बिना उनकी भक्ति का रहस्य भी समझ में नहीं आ सकता।

यह संसार सत्य है—यह स्थापना तुलसी में मिलती है, यह संसार मिथ्या है, यह स्थापना भी।

उत्तरकाण्ड में वेद, रामचन्द्र की स्तुति करते हुए ब्रह्मको अव्यक्तमूल कहते हुए संसार-विटप की वंदना करते हैं "संसार-विटप नमामहे।" यह दृश्य संसार ब्रह्म का ही रूप है। यह नित्य है, फलता-फूलता और पल्लवित होता है।

बालकाण्ड के आरम्भ में तुलसीदास ब्रह्म और गोचर जगत् की एकता घोषित करते हैं

"जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।"

"सीय राममय सब जग जानी।"

उत्तरकाण्ड में शिव कहते हैं

"निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध।"

"कवितावली" में संसार को झूठा कहने वाले सन्तों को उन्होंने गंवार कहा है, यह हम ऊपर देख चुके हैं।

संसार सत्य है, संसार ब्रह्ममय या राममय है, दृश्य संसार में तुलसी को राम दिखाई देते हैं—ये निष्कर्ष ऊपर के उद्धरणों से निकलते हैं।

यह संसार मिथ्या है, इस धारणा के समर्थन में भी अनेक उक्तियां उद्धृत की जा सकती हैं।

बालकाण्ड में शिव कहते हैं

"झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने।
जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥"

यह संसार स्वप्न के समान है। ब्रह्मज्ञान न होने से झूठा संसार भी सत्य मालूम होता है; ज्ञान प्राप्त होने पर स्वप्न के भ्रम की तरह वह खो जाता है। माया के कारण जीव कष्ट पाता है—"फिरत सदा माया कर प्रेरा" इत्यादि—ज्ञान होने पर या ईश्वर की कृपा होने पर वह मुक्त हो जाता है। मनुष्य के अज्ञान का नाम माया है। माया ब्रह्म की रचनाशक्ति का नाम भी है—"मम माया संभव संसारा।"

संसार सत्य है या मिथ्या—इस प्रश्न का उत्तर एक दूसरी समस्या से जुड़ा हुआ है और वह यह कि ब्रह्म सगुण है कि निर्गुण या दोनों। शुक्ल जी ने भक्ति के विकास का विवेचन करते हुए दिखाया था कि भक्तों के लिये ब्रह्म सगुण-निर्गुण व्यक्त-अव्यक्त दोनों है। तुलसी अनेक स्थलों पर उसे सगुण-निर्गुण दोनों मानते हैं।

राम-नाम की महिमा वर्णन करते हुए वह कहते हैं :

"अगुन अनूपम गुन निधान सो।"

और भी—

"अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।"

यह स्थापना पहले से चली आ रही थी; तुलसी ने उसे दोहराया है लेकिन दोहराकर संतोष नहीं कर लिया। वह अगुन-सगुन की एकता नाम के आधार पर कराते हैं। इसे वह अपना मत कहते हैं।

"मोरे मत बड़ नाम दुहूँ तें। किए जेहिं जुग निज बस निज बूतें।"

इसी तरह "अगुन-सगुन बिच नाम सुसाखी" मानते हैं। योगी भी "अकथ अनामय नाम न रूपा" ब्रह्म का साक्षात्कार नाम जपकर ही करते हैं—"नाम जीह जपि जागहिं जोगी।" तुलसी के पास नाम एक ऐसा अस्त्र है जिससे वह अरूप-अनामवादियों को परास्त कर देते हैं। ब्रह्म का चाहे व्यक्त रूप लो चाहे अव्यक्त, नाम के बाहर दोनों नहीं हैं। तुलसी की "प्रतीति प्रीति रुचि मन की" यह है कि ब्रह्म कुछ लोगों को तो प्रकट

अग्नि के समान प्रत्यक्ष दिखाई देता है और कुछ लोगों को दारुगत अप्रत्यक्ष जान पड़ता है। ये दोनों ही नाम से सुगम हो जाते हैं, इसीलिये नाम ब्रह्म और राम से बढ़कर है। उत्तरकाण्ड में वेद राम की वन्दना करते हुए "जय सगुण निर्गुण रूप" कहते हैं। फिर भी वे कहते हैं कि जो ब्रह्म को अज, अद्वैत, अनुभवगम्य कहकर उसका ध्यान करते हों, वे किया करें लेकिन "हम तव सगुन जस नित गावहीं।"

इस विवेचन से दो बातें स्पष्ट हैं कि तुलसी शुद्ध निर्गुणवादी नहीं हैं, अधिक से अधिक वह ब्रह्म के सगुण-निर्गुण दोनों रूप मानते हैं। दोनों को नाम के अधीन समझते हैं। इसके साथ ही वह सदा ब्रह्म को दयालु कहते ह। बालकाण्ड में जिसे वह "अनीह अरूप अनामा" कहते हैं, उसे "व्यापक विस्वरूप भगवाना" भी मानते हैं और उसे "परमकृपालु प्रनत अनुरागी", ममता, छोह और करुणा से युक्त कहते हैं। उत्तरकाण्ड में राम कहते हैं

"अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया।"

दयावान ब्रह्म की कल्पना तुलसी को मूलत: सगुणवादी बनाती है। यह दयावान ईश्वर अपने रचे हुए विश्व को प्यार करते हैं, उसमें रहने वाले प्राणियों पर दया करता है।

"सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सबते अधिक मनुज मोहि भाए।"

यदि संसार माया है तो उस संसार में रहने वालों को प्रिय कहने वाला भी माया के वश में है।

तुलसीदास शैवों और वैष्णवों को राम के भक्तों को और कृष्ण के भक्तों को, सगुणवादियों और निर्गुणवादियों को एक करना चाहते थे। लेकिन वह शैव नहीं थे वैष्णव थे, उनके इष्टदेव कृष्ण नहीं थे, राम थे, वह ब्रह्म को मूलत: विश्वरूप और सगुण मानते थे, न कि अगोचर, निर्गुण और निराकार। शुक्लजी ने मध्यकालीन भक्तों के लिये यह दावा किया था कि वह जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिषेध करते हैं, यह बात तुलसी के लिये भी सही है।

तुलसी के लिये संसार सत्य था या असत्य, इसका पता इसी से नहीं लगता कि ब्रह्म, जीव और जगत् के बारे में उन्होंने क्या कहा है, इसका

पता इससे भी लगता है कि उन्होंने मानव-जीवन, मानव-समाज और मानव-चरित्र का चित्रण किस तरह किया है। जहाँ योगी और बैरागी मानव-समाज से बिमुख होकर अपने एकान्त जप और ध्यान में लगे रहते थे, वहाँ तुलसी की हरिकथा मानवजीवन की कथा का रूप ले लेती है। जायसी की भूमिका में शुक्लजी ने रासो आदि को वीरगाथा, पद्मावत आदि को प्रेम-गाथा और "रामचरितमानस को जीवनगाथा के अन्तर्गत" रखा है। तुलसी का महान् काव्य रामचरितमानस जीवनगाथा ही है; तुलसी उन्हीं सच्चे कवियों में हैं जिनका हृदय, शुक्लजी के अनुसार, जीवन की वास्तविक दशाओं में रमता है, जो भावों की व्यंजना अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँचा सकते हैं लेकिन जो वास्तविकता का आधार नहीं छोड़ते। शुक्लजी तुलसी को महा-कवि इसलिये मानते हैं कि उन्होंने "मनुष्य-जीवन की बहुत अधिक परिस्थितियों का" सन्निवेश किया है। इसमें उन्होंने "हृदय की विशालता, भावप्रसार की शक्ति,मर्मस्पर्शी स्वरूपों की उद्भावना और शब्द शक्ति" का परिचय दिया है। गुण और आदर, पाप और घृणा, अत्याचार और क्रोध, शोक और करुणा, महत्व और दीनता—मानव-प्रकृति के बहुसंख्यक रूपों का चित्रण गोस्वामीजी ने किया है।

"शृङ्गार, वीर आदि कुछ गिने गिनाए रसों के वर्णन में निपुण" कवियों से तुलसी को भिन्न कोटि में रखते हुए शुक्लजी ने उन्हें ऐसा महाकवि कहा है जिसका "अधिकार मनुष्य की सम्पूर्ण भावनात्मक सत्ता पर है।" यहाँ पर शुक्लजी ने लक्षण-ग्रन्थों की रस-निरूपण परम्परा की सीमाएं भी बतला दी हैं। मनुष्य की सम्पूर्ण भावनात्मक सत्ता शृङ्गार, वीर आदि कुछ गिने-गिनाये रसों से कही अधिक व्यापक है। यह सम्पूर्ण भाव-नात्मक सत्ता ही महान् कवियों का भावक्षेत्र होती है; उसी प्रकार साहित्य की आलोचना भी उस व्यापकता का ध्यान रखते हुए होनी चाहिये। यदि आलोचक साहित्य का मूल्याङ्कन करते हुए कुछ रस और अलंकार गिनाने बैठ जायं तो उनकी आलोचना-परिधि बहुत ही सीमित रहेगी। तुलसी जैसे लोकहृदय के मर्मी कवियों की तुलना में दरबारी कवि कितने क्षुद्र हैं, यह बताने के लिये शुक्लजी कहते हैं: "केशव, बिहारी आदि के साथ ऐसे कवियों को मिलान के लिये रखना उनका अपमान करना है।" शुक्लजी

श्री खरतरगच्छीय ज्ञान मन्दिर, जयपुर

ने लक्षणग्रन्थों की परम्परा से आगे निकल कर, उसका तीव्र विरोध करके तुलसी का मूल्याङ्कन किया है। यह इस बात का प्रमाण है कि वह हिन्दी आलोचना को सामन्ती विचारधारा की पराधीनता से मुक्त कर रहे थे। तुलसी का मूल्याङ्कन करते हुए उन्होंने आलोचना के नये मानदण्ड भी स्थापित किये हैं।

तुलसी के मुकाबले में शुक्लजी ने सूर, जायसी और कबीर को भी नीचा स्थान दिया है, यह ठीक है। तुलसी का भावक्षेत्र अधिक व्यापक है। कबीर सूर आदि से अधिक वह मानव-वेदना के कवि हैं। वह मानव के दुख से व्यथित ही नहीं हैं, वह अपने पात्रों में सक्रिय प्रतिरोध के गुण भी चित्रित करते हैं। प्रचलित पूँजीवादी विचारधारा के प्रतिकूल शुक्लजी परिस्थितियों के अनुसार क्रोध और ध्वंस को भी काव्य में आवश्यक समझते हैं। तुलसी ने क्षमा, उदारता आदि ही में लोक धर्म नहीं देखा "बल्कि क्रोध, घृणा, शोक, विनाश और ध्वंस आदि में भी उसे देखा।" अहिंसावाद के एकाङ्गी प्रचारकों को उत्तर देते हुए वह लिखते हैं "अत्याचारियों पर जो क्रोध प्रकट किया जाता है, असाध्य दुर्जनों के प्रति जो घृणा प्रकट की जाती है, दीन दुखियों को सतानेवालों का जो संहार किया जाता है, कठिन कर्तव्यों के पालन में जो वीरता प्रकट की जाती है, उसमें भी धर्म अपना मनोहर रूप दिखाता है।"

सर्प को दूध पिलाकर उसका स्वभाव बदलने वालों को शुक्लजी व्यक्तिगत साधना करने वाला कहते हैं, यह लोक-धर्म नहीं है। लोक-धर्म वह है जिस पर आम जनता चल सके। व्यक्तिगत साधना और लोक धर्म का यह भेद उन अहिंसावादियों के लिये बहुत अच्छा उत्तर है जो जनता के लिये दण्ड और कारागार का विधान करते हैं और निहित स्वार्थों का हृदय-परिवर्तन करने का ऐलान किया करते हैं। शुक्लजी उन लोगों को भी उत्तर देते हैं जो कहते हैं कि शान्तिपूर्ण लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये शान्तिपूर्ण उपाय ही काम में लाने चाहिएँ। भारत में साम-दाम-दण्ड-भेद का विधान बहुत पुराना है। शुक्लजी कहते हैं "यदि किसी अत्याचारी का दमन सीधे न्यायसंगत उपायों से नहीं हो सकता तो कुटिल नीति का अवलम्बन

लोकधर्म की दृष्टि से उचित है।" भारतीय इतिहास पर नज़र डालते हुए वह इस नतीजे पर पहुँचते हैं : भारतीय जन-समाज में लोकधर्म का आदर्श यदि पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित रहने पाता तो विदेशियों के आक्रमण को व्यर्थ करने में देश अधिक समर्थ होता।"

शुक्लजी ने भक्ति आन्दोलन और जनता के प्रतिरोध का सम्बन्ध जोड़ा है। "दक्षिण भारत में रामदास स्वामी ने इसी लोक-धर्माश्रित भक्ति का संचार करके महाराष्ट्र शक्ति का अभ्युदय किया। पीछे से सिखों ने भी लोक-धर्म का आश्रय लिया और सिख-शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ।" भक्ति आन्दोलन जातीय आन्दोलन था; वह किसी विशेष वर्ण या सम्प्रदाय का आन्दोलन न था। उसमें हिन्दू, सिख, मुसलमान, जुलाहे, कारीगर, किसान, व्यापारी सभी शामिल थे। उसे राज्याश्रय प्राप्त न था, यह भी बिल्कुल स्पष्ट है। कारण यह है कि वह एक ओर यदि तुर्कों और मुगलों के शासन का विरोधी था तो दूसरी ओर—और उससे भी अधिक—वह समाज में सामंती और पुरोहिती उत्पीड़न का विरोधी था। इस सामन्त-विरोधी कार्य में सूर, तुलसी, कबीर, जायसी सभी ने न्यूनाधिक योग दिया था। शुक्लजी के सामने भक्ति-आन्दोलन का यह पहलू बहुत स्पष्ट न था। इसलिये सूर-साहित्य में उन्हें लोक-संग्रह की भावना नहीं दिखी या कम दिखी है, कबीर आदि सन्तों में उन्होंने लोक-विरोध भी देखा और तुलसी को उन्होंने विरोधी दिशा का कवि माना। जायसी आदि पर उन्होंने विदेशी प्रभाव देखा।

शुक्लजी के अनुसार तुलसी के समय में नए-नए पंथ निकल रहे थे, ज्ञानविज्ञान की निन्दा होती थी, विद्वानों का उपहास होता था, वेदान्त के दो चार शब्दों का अनधिकार प्रयोग होता था, लोक को व्यवस्थित करने वाली मर्यादा का अभाव था। तुलसी ने वर्ण-धर्म, वेदविहित कर्म के साथ भक्ति का सामंजस्य स्थापित करके "आर्य धर्म को छिन्न भिन्न होने से बचाया।" शुक्लजी के अनुसार तुलसी के समय में दो तरह के भक्त थे। एक तो वे थे जो "वेद शास्त्रज्ञ तत्वदर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित संप्रदायों के अनुयायी थे", दूसरे वे थे जो "समाज-व्यवस्था की निन्दा और पूज्य तथा सम्मनित व्यक्तियों के उपहास द्वारा लोगों को आकर्षित करते" थे। समाज

मे शासकों, विद्वानो, शूरवीरों आदि को जो अधिकार और सम्मान प्राप्त रहता है, उससे कुछ लोगों को अकारण ईर्ष्या और द्वेष हो जाता है। इस-लिये "उक्त शिष्ट वर्गों म कोई दोष न रहने पर भी" चलते पुर्जे लोग अगुआ बनकर साधारण लोगों को भड़का देते हैं। शुक्लजी ने योरुप की "सामाजिक अशान्ति" के लिये ऐसे लोगों को जिम्मेदार ठहराया है। "क्रान्तिकारक, प्रवर्तक आदि कहलाने का उन्माद योरप में बहुत अधिक है।" रूसी क्रान्ति के बारे में साम्राज्यवादियो ने धु आधार प्रचार किया था, उसी को दोहराते हुए शुक्लजी ने लिख डाला है "ऊँची श्रेणियों के कर्तव्य की पुष्ट व्यवस्था न होने से ही योरप में नीची श्रेणियों में ईर्ष्या, द्वेष और अह-कार का प्राबल्य हुआ जिससे लाभ उठा कर लेनिन अपने समय का महात्मा बना रहा।" यह महात्मापन देने वाली जनता ही है, इसलिये शुक्लजी चेतावनी देते हैं "मूर्ख जनता के इस माहात्म्य प्रदान पर भूलना न चाहिए। जनता के अनुकूल काम करने वाले उसके सम्मान के पात्र बन जाते हैं।" रूस में "मूर्ख जनता" के अनुकूल काय करने वाले रह गए हैं और "भारी भारी विद्वानों और गुणियों का भागना" अमगल की सूचना दे रहा है। "अल्प शक्तिवालों की अहकार-वृत्ति को तुष्ट करने वाला 'साम्य' शब्द ही उत्कर्ष का विरोधी है।"

शुक्लजी के विवेचन का यह सबसे कमजोर पहलू है। उन्होंने शुरुआत की थी कबीर आदि का लोक-विरोधी रूप दिखाने से, पहुंच गए रूसी कॉंति और लेनिन तक और अन्त में जनता को ही मूर्ख और जड़ कहने लगे। इससे यह परिणाम निकालना कि शुक्लजी क्रान्ति-विरोधी थे, जनता में उन्हें विश्वास न था, वह वर्णव्यवस्था और सामन्ती समाज के हिमायती थे, गलत होगा। शुक्लजी ने ये शब्द आवेश मे लिखे हैं, उनकी मूल विचारधारा से इनका मेल नहीं है। इस आवेश के कारण, तुलसी के महत्व का गलत प्रतिपादन करने के जोश में, वह अनेक असगतियों में फस गये हैं।

जिस जनता को उन्होंने जड़ और मूर्ख कहा है, तुलसी उसी के कण्ठहार हैं, शुक्लजी से यह छिपा न था। वह तुलसी की इसलिए प्रशसा नहीं करते कि विद्वानों ने तुलसी को अपनाया है, शासकों और अधिकार

प्राप्त वर्गों ने उन्हें अपनाया है वरन् इसलिए कि जनता ने उन्हें अपनाया है। इस बात को वह एकबार नहीं कहते, बारबार कहते हैं। कहते अघाते नहीं हैं। कुछ उदाहरण देखिए।

(१) "कथाएँ तो और भी कही जाती हैं, पर जहाँ सबसे अधिक श्रोता देखिए और उन्हें रोते और हँसते पाइये, वहाँ समझिए कि तुलसीकृत रामायण हो रही है। साधारण जनता के मानस पर तुलसी के मानस का अधिकार इतने ही से समझा जा सकता है।"

(२) हिन्दी के कवियों में इस प्रकार की सर्वांगपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामी जी में ही है जिनके प्रभाव से रामचरित मानस उत्तरीय भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है।"

(३) "यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखने वाला हिन्दी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एकमात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत,हृदय, भारती-कन्ठ भक्त-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास।"

यदि जनता मूर्ख है और विद्वत्ता का ठेका थोड़े से वेदशास्त्रज्ञों ने ले रखा है तो उसके हृदय पर अधिकार जमाने वाले कवि भारती-कन्ठ नहीं हो सकते, वे भक्त-चूड़ामणि और भारत-हृदय नही कहला सकते। यदि रामचरित मानस उत्तरी भारत की "जनता के गले का हार" है तो उसे हिन्दुओं का धर्म ग्रन्थ मानना और तुलसी को हिन्दू धर्म का उद्धारक मानना सही नहीं हो सकता। सचाई क्या है? सचाई यह है कि तुलसी जनसाधारण के कवि हैं। जन साधारण में बहुत से अन्धविश्वास हैं तो ऐसी गहरी सहृदयता भी हैं जो तुलसी के काव्य पर झूम उठती है।

तुलसी यदि घोर व्यवस्थावादी थे तो वह प्रेम को सारे नियमों के, समूची व्यवस्था के, ऊपर क्यों मानते हैं? क्षत्रियों के लिए औरतों का जूठा खाना, वह भी बेर, किस शास्त्र में लिखा है? निषाद को गले लगाना किस स्मृति की व्यवस्था है? भाई को मूर्छित देखकर जब राम कहते हैं:

"जो जनतेउँ बनबन्धु बिछोहू। पिता वचन मनतेउँ नही ओहू।"

यह पिता की आज्ञा का उल्लङ्घन करने की इच्छा किस मर्यादावाद के अन्तर्गत

आती है ? इस पंक्ति की चर्चा करते हुए स्वय शुक्लजी लिखते हैं "यह कोमलता, यह सहृदयता सब प्रकार के नियमो से परे है।" व्यवस्था और मर्यादा के बारे में तमाम शोरगुल का नतीजा यह निकला—यह सहृदयता सब प्रकार के नियमो से परे है। और क्या तुलसी की भक्ति का यही सच्चा रूप नहीं है ? क्या तुलसी ने उन्हें ढाढस नहीं बँधाया जो इन नियमों के ही कारण समाज में पिस रहे थे और जो ऊपर उठना चाहते थे, ईर्ष्या और द्वेष के कारण नहीं, थोड़ा सिर उठा सकने के लिए, एक जून मुट्ठी भर अन्न पाने के लिए, तुलसी के राम कहते हैं :

"भगतिवन्त अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी।"

यह नीचों का भक्त बनना किस वेद में लिखा है ? यही नहीं—

"भए सब साधु किरात किरातिनी, रामदास मिटि गइ लघुताई।"

जब किरात और किरातने भी साधु होने लगीं तब कलियुग आगया या नहीं ? क्या इससे स्पष्ट नहा कि तुलसी की भक्ति मानवमात्र की साम्य-भावना लेकर चली है ? इस साम्यभावना का आधार क्या है ? क्या यह कि हर पुरुष और स्त्री बल और बुद्धि में बराबर हो गया है ? नहीं, इस साम्य-भावना का आधार यही है कि भक्ति करने का अधिकार सबको है, चाहे वह किरात हो, चाहे निषाद।

जब-जब साधारणजन अधिकार-प्राप्त शासकवर्गों से पीड़ित हुए हैं, वे इस तरह की साम्यभावना की ओर तेजी से खिचते रहे हैं। साम्यवाद का यह अर्थ कभी नहीं होता कि सभी मनुष्य विद्या-बुद्धि और बल में एक से हो जायँगे। उसका अर्थ यह होता है कि उन्नति के लिए सभी को अवसर मिले, अवसर मिलने की बात कागज़ पर न रहे वरन् उसकी वास्तविक व्यवस्था हो। साधारण जनता को उन्नति का यह अवसर तब तक नहीं मिलता जब तक सम्पत्ति और उन्नति के साधनों पर मुट्ठी भर आदमियों का कब्जा रहता है और जनता का विशाल भाग सम्पत्ति और उन्नति के साधनों से वञ्चित रहता है। बीसवीं सदी में पच्छिम के मुट्ठी भर सम्पत्तिशाली लोगों ने केवल अपने देशों की जनता को गुलाम न बनाया था वरन् भारत जैसे विराट् देशों को भी अपने पैरों तले कुचल रखा था। इन्हीं के कारण

एशिया की करोड़ों जनता गुलामी और भुखमरी का शिकार बनी हुई थी। इन्हीं लोगों ने जनतन्त्र और राष्ट्रीय स्वाधीनता के नाम पर—लेकिन वास्तव में दुनियाँ के बाजारों का फिर से बँटवारा करने के लिए—प्रथम विश्व-युद्ध का आयोजन किया था। युद्ध और शोषण की इस जघन्य साम्राज्य-व्यवस्था से बाहर निकालने का रास्ता लेनिन ने दिखाया था; जनता का संगठन करके, उसका नेतृत्व करते हुए, संसार में वह पहली समाज-व्यवस्था कायम की जो पूँजीपतियों, साहूकारों, सामन्तों और खूनी युद्धपतियों के आतंक और शोषण से मुक्त थी। इसीलिए साधारण जनता को लेनिन इतना प्रिय थे। जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर रूस गये थे, तब यह देखकर कि पुस्तकों की दूकानों के सामने कारखानो से निकले हुए मजदूर कतार बाँधकर खड़े हुए हैं, उन्होंने यही कहा था—भारत में भी क्या कभी मजदूरी करने वाले लोग किताबों की दूकानो के सामने ऐसे ही कतार बाँधकर खड़े होंगे? यदि शुक्ल को अवसर मिलता और वे भी वह सब देख पाते जो रवीन्द्रनाथ ने देखा था, तो अवश्य ही उनकी प्रतिक्रिया भी वैसी ही होती। यदि रूसी भाषा में रामचरितमानस का सुन्दर संस्करण देखने को वह जीवित रहते तो अनुभव करते कि लेनिन ने जिस व्यवस्था की नींव डाली थी, उसमें पला हुआ मनुष्य अपने पुश्किन का ही आदर नहीं करता, वह हमारे महान् कवि भारती-कण्ठ तुलसीदास को भी अपनाता है।

तुलसी के समय सामन्ती व्यवस्था जर्जर हो रही थी। शंकर का वेदान्त, गोरखपन्थियों का योग, राजदरबारों की शूरता देश की रक्षा करने में असमर्थ साबित हो चुकी थी। जर्जर व्यवस्था के समर्थक कवि जनता के हृदय पर अधिकार जमाने वाले कवि नहीं हुआ करते। भक्त-कवियों का मूलमन्त्र प्रेम इसलिए है कि वह मनुष्य-मात्र के लिए सुलभ है। प्रेम ही वह लोकधर्म है—न कि विप्रपदपूजा या स्त्रियों के लिए पतिव्रत की शिक्षा और पुरुषों के लिए नायिका भेद—जिसके आधार पर उस समय साधारण जनता अपनी एकता का अनुभव कर सकती थी और सामन्ती उत्पीड़न के विरुद्ध अपने आत्म-सम्मान का दावा कर सकती थी। कबीर, सूर और जायसी प्रेम के कवि हैं, इस प्रेम के आधार पर कबीर साधारण जनता में आत्मसम्मान का

भाव जगा सके। और तुलसी भी सबसे अधिक इसी प्रेम के कवि हैं। शुक्ल जीने तुलसी के लिए बिल्कुल ठीक लिखा है "जो प्रेमभाव अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ उन्होंने प्रकट किया है, वह अलौकिक है, अविचल है और अनन्य है।" शुक्लजी ने तुलसी के इस प्रेम को पहचाना, उसे सराहा, उसे केशव-बिहारी के "प्रेम" से एकदम भिन्न माना, यही उन्हें हिन्दी का महान आलोचक बनाता है, तुलसी में वेदशास्त्रों की व्यवस्था ढूँढना नहीं। शुक्लजी की महत्ता इस बात में है कि उन्होंने इस प्रेम का लोकवादी रूप पहचाना, कर्मक्षेत्र से उसका सम्बन्ध बतलाया, उसे व्यक्तिवादी प्रेम, अहम् के संकुचित वृत्त में चक्कर काटने वाले प्रेम से भिन्न कहा। उनका यह दावा बिल्कुल सही है "यह प्रेम मार्ग निराला नहीं है जीवन यात्रा के मार्ग से अलग होकर जाने वाला नहीं है। यह प्रेम कर्मक्षेत्र से अलग नहीं करता, उसमें बिखरे हुए कॉटों पर फूल बिछाता है।"

जो प्रेम कॉटों पर फूल बिछाता है, वह स्त्रियों और शूद्रों के लिए दण्डविधान नहीं कर सकता। रामायण में शूद्रों के बारे में जो उक्तियाँ मिलती हैं, उन्हें सही बताने में शुक्लजी को काफी कठिनाई का सामना पड़ा है। उन्होंने यह तर्क दिया है "शूद्र शब्द जाति की नीचता मात्र से अभिप्राय नहीं है, विद्या, बुद्धि, शील, शिष्टता, सभ्यता सबकी हीनता से है।" आगे भी लिखा है "शूद्र शब्द को नीची श्रेणी के मनुष्य का—कुल, शील, विद्या, बुद्धि, शक्ति आदि सब में अत्यन्त न्यून का—बोधक मानना चाहिए। इसकी न्यूनताओं को अलग अलग न लिखकर वर्ण विभाग के आधार पर उन सबके लिए एक शब्द का व्यवहार कर दिया गया है।" लेकिन रामायण में यह भी लिखा है

"पूजिय विप्र सीलगुन हीना। सूद्र न गुनगन ग्यान प्रवीना।"

शुक्लजी इस पंक्ति के सामने पड़ने पर यही कह पाते हैं "जातीय पक्षपात से उस विरक्त महात्मा को क्या मतलब जो कहता है—

लोग कहैं पोचु सो न सोचु न सकोचु मोरे
ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।"

शुक्लजी का तर्क कमजोर पड़ता है लेकिन उसकी कमजोरी ही

उनकी शहजोरी है। यह तर्क साबित करता है कि स्वयं शुक्लजी को इस तरह की उक्तियों से जरा भी सहानुभूति न थी। वे या तो शूद्र शब्द का लोक-प्रचलित अर्थ छोड़कर दूसरा अर्थ करते थे या तुलसी की दूसरी उक्तियाँ उद्धृत करते थे जिनमें उन्होंने जाति-पांति की अवज्ञा दिखलाई है। यह इस बात का भी प्रमाण है कि शुक्लजी पर ब्राह्मणवादी होने का आरोप निराधार है।

स्त्रियों के बारे में रामचरितमानस में जो असुन्दर वाक्य मिलते हैं, उनके बारे में तर्कशास्त्री शुक्लजी कहते हैं: "सब रूपों में स्त्रियों की निन्दा उन्होंने नहीं की है। केवल प्रमदा या कामिनी के रूप में, दाम्पत्य रति के आलंबन के रूप में, की है: माता, पुत्री, भगिनी आदि के रूप में नहीं। इससे सिद्ध है कि स्त्री जाति के प्रति उन्हें कोई रोष न था। अतः उक्त रूप में स्त्रियों की जो निन्दा उन्होंने की है, यह अधिकतर तो अपने ऐसे और विरक्तों के वैराग्य को दृढ़ करने के लिए, और कुछ लोक की अत्यन्त आसक्ति को कम करने के लिए।" ऐसा लगता है कि गोस्वामी जी को नारी के माता, भगिनी और पुत्री रूप से कोई परहेज न था; दाम्पत्य रति के आलंबन रूप बनने से ही उन्हें वैराग्य में विघ्न पड़ता दिखाई देता था। इससे भी सुन्दर तर्क यह है: "स्त्रियों को जो स्थान-स्थान पर बुरा कहा है, उसका ठीक तात्पर्य यह नहीं कि वे सचमुच वैसी ही होती हैं; बल्कि यह मतलब है कि उनमें आसक्त होने से बचने के लिए उन्हें वैसा मान लेना चाहिए।" शुक्लजी ने मानों तै कर लिया है कि रामचरितमानस में जो भी उक्तियाँ मिलेंगी, उनका समर्थन करेंगे ही। समर्थन करना आसान न था, यदि शुक्लजी अपनी सहृदयता को दर-किनार कर देते। लेकिन स्त्रियों के प्रति उन्हें गहरी सहानुभूति थी। दरबारी कवियों पर उनके कोप का यह भी एक कारण था कि वे नारी के व्यक्तित्व का सम्मान न करते थे। उन्होंने रामचरितमानस में नारी के प्रति निन्दासूचक वाक्यों को किसी तरह सही ठहराने के लिए कहीं तुलसी के वैराग्य का सहारा लिया है, कहीं उन्हे सिद्धान्त-वाक्य न मानकर अर्थवाद मात्र समझने पर जोर दिया है! फिर भी काफी संकोच के साथ—जैसे तुलसी ने राम के बालिवध पर शङ्का प्रकट की

थी—उन्होने लिख ही डाला "पर उद्दिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिए इस युक्ति का आलंबन करना गोस्वामी जी ऐसे उदार और सरल प्रकृति के महात्मा के लिए सर्वथा उचित था, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्त्रियाँ भी मनुष्य हैं—निंदा से उनका जी दुख सकता है।"

शुक्लजी के जनवादी अन्त करण का यह एक और प्रमाण है। धर्म-सकट मे पड़ने पर वह तुलसी का पक्ष छोड़ कर स्त्रियों का पक्ष लेना ही ज्यादा उचित समझते हैं। अपने वैराग्य की रक्षा के लिए गोस्वामी जी स्त्रियों का जी दुखायें, यह आचार्य शुक्ल को सहन नहीं है। स्त्रियों के लिये समान अधिकारो की घोषणा करते हुए शुक्लजी देवियो को यह भी सलाह देते हैं कि सन्यासिनी बनो तो तुम भी अपनी बहनो को वैराग्य का उपदेश देते हुए "पुरुषो को इसी प्रकार 'अपावन' और 'सब अवगुणों की खान' कह सकती" हो। इस तर्क का आनन्द लेते हुए शुक्लजी और आगे बढ़कर कहते हैं "पुरुस-पतङ्गों के लिए गोस्वामीजी ने स्त्रियो को जिस प्रकार दीपशिखा कहा है, उसी प्रकार स्त्री-पतङ्गियों के लिये वह पुरुष को भाड़ कहेंगी।"

लेकिन क्यो पुरुष भाड बने और क्यो स्त्रियाँ पतङ्गों के लिए दीपशिखा बने? गोस्वामीजी नारी को दाम्पत्य-रति का आलंबन बनाने के विरुद्ध कब हैं? दाम्पत्य-रति तो धर्म विहित है, गोस्वामीजी तो विवाह के पूर्व ही नायक-नायिका का प्रेम दिखाकर कथा को "रोमांटिक टर्न" देते हैं। शुक्ल जी ने बाल्मीकि और तुलसी के प्रेम-चित्रण की तुलना करते हुए बताया है कि वाल्मीकि मे तो सीता-राम के प्रेम का परिचय विवाह के बाद मिलता है लेकिन गोस्वामीजी ने एक दूसरी काव्य परम्परा का अनुसरण करते हुए कथा को "प्रेमाख्यानी रग (रोमैंटिक टर्न) देने के लिए धनुपयज्ञ के प्रसग मे 'फुलवारी' के दृश्य का सन्निवेश किया।" उसके बाद "बहुरि बदन बिधु अचल ढाँकी" का दाम्पत्य-रति वाला चित्र भी प्रस्तुत किया। कथा को यों रोमेंटिक टर्न देने वाले कवि के समर्थन में वैराग्य-रक्षा की दलील कितनी कमजोर है, यह देखा जा सकता है। यदि कोई कहे कि शृंगार की यह व्यंजना सीताजी को लेकर है जो जगज्जननी हैं, तो उत्तर यह

होगा कि "सहज अपावन नारि" का उपदेशभी उन्हींको दिया गया है। यदि वह अपावनता की बात सीताजी के लिये नहीं, उनके बहाने और सब देवियों के लिए हैं, तो वह श्रृंगार-व्यंजना भी सीताजी के लिये नहीं, उनके बहाने और सब देबियों के लिए हैं जो वैराग्य के लिये और भी भयङ्कर है।

"कोटि मनोज लजाबन हारे" आदि पंक्तियाँ उद्धृत करते हुये शुक्लजी ने लिखा है: "पवित्र दाम्पत्यरति की कैसी मनोहर व्यंजना उन्होंने सीता द्वारा उस समय कराई है" इत्यादि। यदि दाम्पत्यरति पवित्र हो सकती है तो फिर स्त्रियों के दाम्पत्य रति का आलबंन बनने से परहेज क्यों? वैराग्य की रक्षा के लिए उन्हें कोसा क्यों जाय?

"ढोल गँवार शूद्र पशु नारी" की पंक्ति के बारे में शुक्लजी "ताड़न" की व्याख्या यों करते हैं: वह "ढोल शब्द के योग में आलंकारिक चमत्कार उत्पन्न करने के लिये लाया गया है।" लेकिन यह व्याख्या सन्तोषजनक न लगने पर शुक्लजी ने यह भी जोड़ दिया है: "स्त्री का समावेश भी सुरुचि-विरुद्ध लगता है, पर वैरागी समझकर उनकी बात का बुरा न मानना चाहिए।" यदि वैरागी कह कर तुलसी को माफी देनी है तो उन्हें लोकधर्म का संस्थापक, समाज-व्यवस्था का रक्षक क्यों कहा?

तुलसी को बैरागी समझकर बक्शने की जरूरत नहीं है। महाकवि तुलसी जीवन के प्रति उदासीन नही हैं; वह राम में अनुरक्त हैं, राम के मानवीय गुणों में अनुरक्त हैं, राम से बढ़कर उनके मानवभक्तों में अनुरक्त हैं। तुलसी के समाज में स्त्रियों को वही दर्जा दिया गया था जो वर्णव्यवस्था में शूद्रों का था और शूद्रों का दर्जा पशुओं का था। तुलसी का महत्व इस विषम समाज-व्यबस्था को ढहने से बचाने में नहीं है, न उन्होंने उसे बचाया, तुलसी का महत्व इसमें है कि उन्होंने अपने को समाज के इन्हीं पतियों का एक अङ्ग समझा, उनके अपमान को अपना अपमान समझा, उनके सम्मान के लिए, मानव-मात्र के लिये, सुलभ भक्तिमार्ग का प्रतिपादन किया। तुलसी की यह विशेषता है कि जो जितना ही समाज-व्यबस्था में गिरा हुआ है, उतना ही वह राम को प्रिय है, जितकी जल्दी राम उस पर कृपा करने के लिये तैयार रहते हैं, उतनी जल्दी उच्च वर्णों के लोगों पर नहीं। इसलिये

देवता अपने स्वर्ग में बैठे इन इतरजनों के भाग्य पर ईर्ष्या ही प्रकट कर सकते हैं। यहाँ कोल-किरात-निषाद-भीलनी-केवट आदि राम के दर्शन-मिलन का सुख पाते हैं। राम का स्वागत करने के लिए सबसे आगे स्त्रियाँ रहती हैं। क्या जनकपुर, क्या वन म, क्या लङ्का से लौटने पर, हर जगह पुरुषों से अधिक स्त्रियों को ही राम का सान्निध्य प्राप्त है।

राका ससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरखान।
बढ्यो कोलाहल करत जनु नारि तरङ्ग समान॥

शुक्लजी ने लिखा है कि भाई और पत्नी के साथ राम का वन में घूमना एक मर्मस्पर्शी दृश्य है, इसलिये गोस्वामीजी ने रामचरितमानस, कवितावली और गीतावली तीनों में उसका अत्यन्त सहृदयता से वर्णन किया है। इसके बाद लिखते हैं "ऐसा दृश्य स्त्रियों के हृदय को सबसे अधिक स्पर्श करने वाला, उनकी प्रीति, दया और आत्मत्याग को सबसे अधिक उभारने वाला होता है, यह बात समझकर मार्ग म उन्होंने ग्रामवधुओं का सन्निवेश किया है।" शुक्लजी के अनुसार गोस्वामीजी का ध्यान इस बात की ओर भी था कि स्त्रिया भी रामचरितमानस पढ़ेंगी या सुनेंगी और इसलिये विशेष रूप से उनके हृदय को स्पर्श करने के लिये उन्होंने ग्रामवधुओं का चित्रण किया है। गोस्वामीजी ने यह सब समझकर किया हो चाहे वैसे ही रस-प्रवाह में लिख गये हों, यह निश्चित है कि नारी-समुदाय से उन्हें गहरी सहानुभूति थी।

'स्त्रियों शूद्रा आदि के प्रति तुलसी की भावना क्या थी, इसका प्रमाण इधर-उधर की दो चार उक्तिया नहीं है वरन् कथावस्तु का निर्वाह और चरित्र चित्रण है। तुलसी की कथा और उनके पात्र निन्दासूचक उक्तियों से ठीक उल्टी बात कहते हैं। और मूलवस्तु कथा और उसके चरित्र हैं, न कि इधर उधर की उक्तियाँ। तुलसी के अन्य ग्रंथों से रामचरितमानस का मिलान करने से और उसकी कथावस्तु और चरित्र-चित्रण के संदेश पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्त्रियों, शूद्रो आदि के लिये जो ताड़ना आदि की बातें कही गई हैं, वे तुलसी की लिखी हुई नहीं हैं, प्रक्षिप्त हैं, उन्हें प्रमाण नहीं माना जा सकता। तुलसी की भक्ति सबसे पहले इन्हीं "पतितों" के लिये है, जिन्हें कोई नहीं जाँचता, उन्हीं के लिये तुलसी के

पतित-उधारन राम हैं। यदि तुलसी वेद-विहित कर्मों के प्रतिष्ठाता होते तो वे यह व्यंग्य-वचन न लिखते :

"कौन धौं सोमयागी अजामिल अधम कौन गजराज धौं वाजपेयी।"

यदि वह स्त्रियों को ताड़ना का अधिकारी समझते, तो उनकी पराधीनता पर द्रवित होकर यह न लिखते :

"कत बिधि सृजी नारि जग माही। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।"

यदि वह सामन्ती व्यवस्था को दृढ़ करने वाले होते तो वे राम को ईश्वर का अवतार न कहते, वरन् वह किसी सामंत को ईश्वर का अवतार कहकर उसकी वंदना करते होते, वह इन सामन्तों के प्रशंसक कवियों के लिये क्रोध से यह न लिखते :

"कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछताना।'

भक्ति आन्दोलन एक सामन्त-विरोधी आन्दोलन था; उसके सर्वश्रेष्ठ सामन्त-विरोधी कवि तुलसी का ऐसा लिखना उचित ही था।

तुलसी की दीनता कल्पित नहीं है; राम को रिझाने के लिये उन्होंने दीनता का नाटक नही किया। वह अपनी क्षुद्रता दिखाने के लिये जब अपने को पतित आदि कहते हैं, वह भी राम के आगे वास्तविक है, जन-साधारण के आगे विनम्रता की व्यंजना। मुख्य बात यह कि तुलसी ने जो कष्ट सहे थे, वे वास्तविक थे, उन कष्टों से वही नहीं, उन जैसे लाखों लोग भी पीड़ित थे। भुक्त-भोगी ही लिख सकता था—"आगि बड़वागि ते बड़ी है आगि पेट की।" जनसमाज की गरीबी और भुखमरी से व्यथित कवि ही लिख सकता था :

"दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबंधु
दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी।"

मध्यकालीन समाजव्यवस्था में जनता की गरीबी, भुखमरी, महामारी आदि का वास्तविक चित्रण करने वाले तुलसी उस युग के सबसे बड़े यथार्थ-वादी कवि हैं, इसमें संदेह नहीं।

शुक्लजी ने काव्य-रचना में प्रबन्धों को बहुत महत्व दिया है। कविता में हृदय के उच्छ्वास ही नहीं प्रकट किये जाते, जीवन का चित्रण भी किया

जाता है। ससार के सबसे बड़े कवि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास सूरदास, शेक्सपियर, दाते, मिल्टन, होमर, पुश्किन आदि प्रबध और नाटकीय रचनाएं लिखने वाले रहे हैं। सूर के पद भी भाव-चित्रण के लिये कथावस्तु और नाटकीय परिस्थितियों का सहारा लेते हैं। शुक्लजी ने रामचरितमानस की कथावस्तु का विवेचन करते हुए यह दिखलाया है कि गोस्वामीजी ने किस तरह विभिन्न घटनाओं का चतुराई से उपयोग करके रसात्मकता बढाई है। उन्होंने परशुराम-सवाद विवाह के बाद नहीं, पहले ही रखा है जिससे "सीता पर उसका अनुरागवर्धक प्रभाव पड़ा ही था।" तुलसी ने कथा के सबसे मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचाना है, उनका उचित उपयोग किया,है राम का वन गमन, चित्रकूट में राम-भरत मिलन, लक्ष्मण के शक्ति लगना आदि। तुलसी ने अलकारों का प्रयोग भी खूब किया है लेकिन "प्रबध-प्रवाह के भीतर ही अलकारों का विधान भी करते चलते हैं।" कला की उत्कृष्टता इस बात में हैं कि हर चीज कथाप्रवाह की सहायता के लिय है। रामचंद्रिका को शुक्लजी ने "फुटकर पद्यों का सग्रह" कहा है। रामचरित पर लिखने से ही कोई महाकवि नहीं हो जाता। कला के सम्बन्ध में शुक्लजी का यह दृष्टिकोण बिल्कुल सही है। यह इस बात का एक और प्रमाण है कि शुक्लजी का दृष्टिकोण एकाङ्गी समाज-शास्त्री नहीं था।

शुक्लजी ने तुलसी-साहित्य में दोष दिखाये हैं, वे भी ऐसे हैं जो कलात्मक सौन्दर्य में बाधक हैं। कवि पर धर्मोपदेष्टा और नीतिकार का हावी होना शुक्लजी को पसन्द नहीं है। "शुद्ध काव्य की दृष्टि से देखने पर उसके बहुत से प्रसग और वर्णन खटकते हैं, जैसे पातिव्रत और मित्र धर्म के उपदेश, उत्तरकाण्ड में गरुड़पुराण के ढग का कर्मों का ऐसा फलाफल कथन ऐसे स्थलों पर गोस्वामीजी का कवि का रूप नहीं,उपदेशक का ही रूप है।'

जहाँ-तहाँ शुक्लजी ने तुलसी के प्रकृति-चित्रण की तारीफ की है लेकिन उस चित्रण से उन्हें सतोष नहीं हुआ। वह सोचते रह जाते हैं 'ऋष्यमूक पर्वत नियराई'—इस प्रसग में प्रकृति-चित्रण का कितना अवकाश था। गोस्वामीजी यह कलात्मक अवसर चूक गये। 'आगे चले बहुरि रघुराई' वाली पक्ति शुक्लजी को विशेष नीरस लगती थी और समूचे प्रबन्ध की सरसता के

ही कारण उन्होंने ऐसी नीरसता को क्षम्य समझा है।

चरित्रचित्रण की विशेषताएं दिखाते हुए उन्होंने राम और दशरथ की परस्पर विभिन्नता की बात उठाई है! दशरथ राम के पिता थे, इसलिये शुक्लजी उनके भी भक्त नही हो गये। दशरथ ने कैकेयी के वश होकर राम के साथ अन्याय किया, शुक्लजी यह भुला नहीं सकते। वरदान वाली बात उनके गले से नीचे नहीं उतरती। इस तरह का काम "स्त्रैण होने का ही परिचय देना है।" इसके विपरीत धीर-वीर राम का चरित्र है जो पिता की तुलना में और भी उज्ज्वल हो उठता है।

नायक प्रतिद्वंदी में भी कुछ गुण होने चाहिए, कवि-कौशल का यह सूत्र शुक्लजी को मालूम है। उन्होंने रावण की कष्ट-सहिष्णुता, धीरता, राक्षसकुल के पालन आदि का विवेचन किया है। रावण पाप का अवतार नहीं है; इसीलिए कथा की रोचकता नष्ट नहीं होने पाती।

शुक्लजी ने भाषा पर महाकवि के असाधारण अधिकार के अनेक उदाहरण दिये हैं। उनकी भाषा के गठन में जो अनेक बोलियों के तत्व मिले हैं, उनका अध्ययन करने के लिये मूल्यवान सुझाव दिये हैं। शुक्लजी उन कवियों से सख्त नाराज हैं जो भाषा के साथ मनमाना व्यवहार करते हैं, वाक्य-रचना आदि के नियमों का ध्यान नहीं रखते। इन्हें कोसते हुए उन्होंने लिखा है: "हिन्दी का भी व्याकरण है, 'भाषा' में भी वाक्य रचना के नियम हैं, अधिकतर लोगों ने इस बात को भूलकर कवित्त सवैयों के चार पैर खड़े किये हैं।" वह गोस्वामी जी से इस कारण विशेष प्रसन्न हैं कि उन्होंने वाक्यों की सफाई और वाक्य-रचना की निर्दोषता का ध्यान रखा है, वाक्यों में शैथिल्य नहीं आने दिया, मुहावरों का प्रयोग किया है, इत्यादि।

शुक्लजी तुलसी द्वारा अलंकारों के प्रयोग की विशेषता यह मानते हैं कि जो अलंकार नहीं पहचानते वे भी "अर्थ ग्रहण करके पूरा आनन्द उठाते हैं।" अलंकारों की चर्चा करते हुए उन्हें बिहारी याद न आते, यह कैसे हो सकता था? इसलिये "एक बिहारी हैं कि पहले 'नायिका का पता लगाइये,

फिर अलङ्कार निश्चित कीजिए और तब दोनों की सहायता से प्रसग को ऊहा कीजिए, तब जाकर कहीं अर्थ से भेट हो।"

काशी में रहने के कारण अलङ्कार-शास्त्रियों के सपर्क में आना शुक्लजी के लिये अनिवार्य था। पुरानी परिपाटी की काव्य-चर्चा में अलङ्कार गिनना विशेष विद्वत्ता का चिन्ह माना जाता था। शुक्लजी ने मानों इन अलङ्कार शास्त्रियों पर धाक जमाने के लिये अलङ्कारों की खूब छान-बीन की है, सीताजी की "बहुरि बदन-बिधु अंचल ढाँकी" आदि चेष्टाएं 'अनुभाव' होंगी या विभावातर्गत 'हाव' होंगी, इसका सूक्ष्म किंतु अमार्मिक विवेचन किया है। कहीं-कहीं गोस्वामी जी ने ऐसी अलङ्कार योजना भी की है जो प्रभावोत्पादक नहीं है। इसके लिये शुक्लजी की दलील है कि रामचरित मानस की ओर सभी प्रकार के लोगों को आकर्षित करना था, इसलिये उन्होंने "अलङ्कार की भद्दी रुचि रखने वालों को भी निराश नहीं किया।"॥

शुक्लजी की यह स्थापना कि प्रबन्ध पटुता के कारण गोस्वामीजी ने अलङ्कारों का उपयोग भावोत्कर्ष के लिये किया है, बिल्कुल सही है। लेकिन पटुता [illegible] प्रशंसा करते हुए उन्होंने मुक्तकों और गीतिकाव्य का महत्व कुछ कम करके आंका है, या उसे भुला ही दिया है। तुलसी की रचनाओं में जो "लिरिक" रचनाओं का सौन्दर्य है, तुलसी की आत्मीयता, तन्मयता, व्यक्तित्व की झलक, आत्मनिवेदन, स्वत स्फूर्त गेयता—इन सबका मूल्य या तो उन्होंने नहीं पहचाना या उसके बारे में वह क्षमा प्रार्थना सी करते दिखाई देते हैं। यह कहने के बाद कि काव्य का अतिरंजित या प्रगीत स्वरूप मुक्तकों में ज्यादा पाया जाता है, वह तुलसी के लिये दावा करते हैं. "गोस्वामीजी की रुचि काव्य के अतिरंजित या प्रगीत स्वरूप की ओर नहीं थी।" इतना लिखने के बाद उन्हें गीतावली का ध्यान आता है, इसलिये क्षमा-प्रार्थना करते हैं, "गीतावली गीतकाव्य है पर उसमें भी भावों की व्यंजना उसी रूप में हुई है जिस रूप में मनुष्यों को उनकी अनुभूति हुआ करती है या हो सकती है।" इसका अर्थ यह हुआ कि गीत-काव्य स्वाभाविक हो तो ठीक, अतिरंजित हो तो गलत, फिर क्षमा-प्रार्थना की जरूरत क्यों? वास्तव में शुक्लजी गीत-काव्य को हेय मानते थे, तुलसी के महाकवि होने

का दावा सबसे अधिक उनकी प्रबन्ध-पटुता के कारण किया था, इसीलिये गीत-काव्य के लिये क्षमाप्रार्थी हैं।

विनयपत्रिका की चर्चा करते हुए इसी ढंग से उन्होंने लिखा है: "विनयपत्रिका में अलबत तुलसीदास जी अपनी दशा का निवेदन करने बैठे हैं।" पक्ष की दलील यह है: "पर इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि तुलसी की अनुभूति ऐसी नहीं जो एकदम सबसे न्यारी हो।" यह बात सूर आदि और गीतकारों के लिये भी कही जा सकती है।

इस सिलसिले में शुक्लजी ने कलियुग-वर्णन से तात्कालिक देश-दशा का जो सम्बन्ध जोड़ा है, वह ध्यान देने योग्य है। "विनय" में कलि की करालता से उत्पन्न जिस व्याकुलता या कातरता का उन्होंने वर्णन किया है वह केवल उन्हीं की नहीं है समस्त लोक की है।" शुक्लजी ने इस स्थापना का विस्तृत विवेचन किया होता तो वे तुलसी की करुणा की और मार्मिक व्याख्या कर पाते। इस करुणा की ओर कम दृष्टि जाने के कारण वह कवितावली और विनयपत्रिका का उपयुक्त मूल्याङ्कन नहीं कर पाये और मानस के विवेचन में भी पात्रों के अनेक नैतिक गुणों का उद्घाटन नहीं कर पाये।

उनके कला-विवेचन में तुलसी के छन्द-कौशल पर प्रकाश नहीं डाला गया; यह कमी खटकती है। इन कमियों के बावजूद "गोस्वामी तुलसीदास" इस विषय की श्रेष्ठ और मौलिक रचना है। उसकी मौलिकता इस बात में है कि शुक्लजी ने कला का आधार वास्तविक जीवन को माना है, भक्ति का आधार जीवन की स्वीकृति मानी है, रामचरितमानस को "जीवनगाथा" के रूप में देखा है, उसमें जीवन की वास्तविक दशाओं, उसकी अनेकरूपता और स्वाभाविकता का विवेचन किया है, दरबारी कवियों से भिन्न और उनकी परम्परा के विरुद्ध तुलसी के लोक-साहित्य की पद्धति प्रमाणित की है, अलंकारों को प्रबन्ध और काव्यवस्तु का उत्कर्ष बढ़ाने वाला समझ कर उनकी व्याख्या की है, तुलसी की भावुकता से परास्त होकर उन्हें प्रेम का उत्कर्ष दिखाने वाला महाकवि माना है, महाकवि की सहृदयता के आगे

नियम और व्यवस्था एक ओर रखे रह जाते हैं, यह स्वीकार किया है। तुलसी में यह सब देखने और लिखने वाले आलोचक शुक्लजी ही थे। जैसे-जैसे हिन्दी आलोचना के ऊपर से लक्षण-ग्रन्थों का प्रभाव उठेगा और 'कला-कला के लिये' आदि वादों से वह मुक्त होगी, वैसे ही शुक्लजी की स्थापनाओं का मूल्य हमारी निगाह में और भी बढ़ेगा और उन्हीं स्थापनाओं को विकसित करते हुए तुलसी का और भी विस्तृत अध्ययन सम्भव होगा।

दरबारी काव्य-परम्परा

रीतिकालीन कवियों के सीमित भाव-क्षेत्र, शृंगारप्रियता और साहित्यिक सुरुचि के अभाव की चर्चा करते हुये शुक्लजी ने इतिहास में लिखा है; "इसका कारण जनता की रुचि नहीं; आश्रयदाता राजा महाराजाओं की रुचि थी जिनके लिये कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।" शुक्लजी ने यहाँ रीतिकालीन कविता का वर्ग-आधार बहुत स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दिया है। जिसे रीतिकालीन कविता कहा जाता है, वह वास्तब में दरबारी कविता है और उसकी परम्परा संस्कृत से चली आ रही थी--लक्षण-ग्रन्थ, नायिका भेद, अलङ्कार, चमत्कारबाद, सूक्ति-प्रियता, अश्लीलता, हिन्दी रीतिकालीन कविता को ये सभी गुण विरासत में संस्कृत से मिले थे। इसलिये यह समझना कि देश में मुसलमानों का राज हो जाने से जनता की रुचि पतित हो गयी थी, सामन्तों की कुरुचि के लिए जनता को दोषी ठहराना है।

"देव और उनकी कविता" में डा० नगेन्द्र लिखते हैं: "घोर सामाजिक और राजनीतिक पतन के इस युग में जीवन वाह्य अभिव्यक्तियों से निराश होकर घर की चहार-दीवारी में ही अपने को अभिव्यक्त कर सकता था—घर में इस समय न धर्म-चिन्तन था, न शास्त्र चिंतन, अतएव अभि-

व्यक्ति का एक ही माध्यम था—काम। बाह्य जीवन की असफलताओं से आहत मन नारी के अङ्गों में मुँह छिपाकर विक्षुध-विभोर तो हो जाता था।" यहाँ सामन्तों की कुरुचि को जनता की कुरुचि कह दिया गया। यदि इस विशेष युग मे निराशा के कारण लोग "नारी के अङ्गों में मुँह" छिपाते, तो उस युग मे, जब इस निराशा को कोई कारण न था, ऐसी विलास-प्रियता और नायिका भेदी रुचि क्यों मिलती है? रीतिकालीन कवि शृंगार की शराब मे गम गलत करने वाले कवि न थे, न उनका काम-क्षेत्र घर की चहार-दीवारी तक सीमित था। डा० नगेन्द्र ने कामवासना को जीवन की मूल प्रवृत्ति मानकर, इस विषय में ऋग्वेद और फ्रायड को एक करके और समूचे युग को निराशा और पतन का युग कहकर दरबारी कविता के सामन्ती वर्ग आधार को छिपा दिया है, उन राजाओं-महाराजओं को "गुड कौन्डक्ट" का सार्टिफिकेट दे दिया है जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।

केशवदास आदि कवियों ने हिन्दी के कुछ मामूली पढे लिखे पाठकों और अध्यापकों पर आचार्यत्व का रोब जमा रक्खा था। शुक्लजी ने इन दरबारी कवियों के कन्धों पर से आचार्यत्व की रामनामी उतार ली। उन्होंने दिखाया कि इन आचार्यों ने या तो भामह और उद्‌भट की नकल की थी या आनन्दवर्द्धनाचार्य, मम्मट और विश्वनाथ की। बहुत से लोगों ने चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के अनुसार अलङ्कार-ग्रन्थ रचे थे। इनके अनुवाद—विशेषत केशवदास के—भाड़े हुए हैं। किसी विषय की सम्यक् मीमासा तो वे विस्तार से पद्य मे कर ही नहीं पाये। मौलिकता का उनमे नितान्त अभाव है। पहले लक्षण फिर उनके उदाहरण लिखने की भद्दी परिपाटी उन्होंने जरूर चलाइ।

रीतिकालीन कवियों ने हिन्दी काव्य-क्षेत्र सकुचित किया, जीवन की अनेकरूपता का उनमे अभाव है। शुक्लजी के शब्दों मे "वाग्धारा बँधी हुई नालियों मे ही प्रवाहित होने लगी।" शुक्लजी साहित्य मे व्यक्तिगत दायरे से निकल कर लोक जीवन को साहित्य का भावक्षेत्र बनाने के पक्ष म रहे हैं। लेकिन रीतिकालीन कवियों का व्यक्तित्व ऐसा निर्जीव था कि उन्हें

लिखना पड़ा है : "कवियों की व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत ही कम रह गया।" यदि इन कवियों में कुछ व्यक्तिगत विशेषतायें दिखाई देतीं, तो भी पता चलता कि इनमें स्वाधीन-चेतना अभी बाकी है।

रीतिकालीन कवियों ने अपनी काव्यसामग्री राजदरबारों और वहाँ के वातावरण से ली थी। वह साधारण जनता के जीवन से बाहर की थी। भक्त कवियों ने रानियो का भी वर्णन किया है तो साधारण स्त्रियों के रूप मे; दरबारी कवियो ने साधारण स्त्रियों का वर्णन भी किया है तो उन्हें रनिवास की नायिका बना दिया है। शुक्लजी के अनुसार जायसी के पद्मावत में नागमती "विरहदशा में अपना रानीपन बिल्कुल भूल जाती है और अपने को केवल साधारण स्त्री के रूप में देखती है।" रीतिकालीन कवि अपनी नायिकाओं के लिए जनसाधारण के जीवन से दूर किस तरह की सामग्री जुटाते थे, इस पर शुक्लजी कहते हैं: "यदि कनक-पर्यङ्क, मखमली सेज, रत्नजटित अलङ्कार-संगमर्मर के महल, खसखाने इत्यादि की बातें होतीं तो वे जनता के एक बड़े भाग के अनुभव से कुछ दूर की होतीं।" सूफियों, सन्तों आदि का प्रेम दरबारी कवियों के प्रेम से किस तरह भिन्न है, यह बतलाते हुए शुक्लजी जायसी की भूमिका में कहते हैं : "ऐसा प्रेम प्रिय को छोड़ किसी अन्य वस्तु का आश्रित नहीं होता। न उसे सुराही चाहिए, न प्याला, न गुल गुली गिलमें, न गलीचा।"

दरबारी कवियों की शृङ्गारी कविता में शुक्लजी को सबसे बड़ा दोष उसकी कृत्रिमता दिखाई देता है। उन्होंने नायिकाओं के सूखकर काँटा होने, मूर्छा, उन्माद आदि के अतिरंजित चित्रों की तीव्र आलोचना की है। इसके सिवा शृङ्गार के चित्रण में ये कवि मर्यादा का बिल्कुल ध्यान न रखते थे। तुलसी के प्रेम-चित्रण से इनके शृङ्गार वर्णन की भिन्नता दिखाते हुए उन्होंने "नायिकाभेद वाले कवियों" द्वारा "लोकमर्यादा का उलंघन" होता बतलाया है। उन्हे 'रासलीला के रसिकों" से भी कोई शिकायत है तो यही कि वे भी मर्यादा का ध्यान नहीं रखते।

शुक्लजी की गम्भीर आलोचना में पाठकों का मनोरंजन करने के लिये जहाँ तहाँ हास्य का पुट भी है। इस हास्यरस के प्रधान आलम्बन हैं आचार्य केशवदास। तुलसी के पंचवटी वर्णन की चर्चा करते हुए उन्हें केशव का इसी सिलसिले में अलंकार-प्रदर्शन याद आ जाता है। केशव के वर्णन से तुलसी के विस्तृत और भावुक चित्रण की भिन्नता दिखाते हुए उन्होंने "गोस्वामी तुलसीदास" में लिखा है "केशवदास के समान नहीं किया है कि पंचवटी का प्रसंग आया तो बस 'सब जाति फटी दुख की दुपटी' करके अपना यह श्लेष चमत्कार दिखाकर चलते बने।" चलते बने !!! इन दो शब्दों में ही शुक्लजी ने केशव को चलता कर दिया है।

"बेर भयानक सी अति लगै। अर्क समूह जहाँ जगमगै।"

इस पंक्ति में उन्हें हास्यरस की विशेष सामग्री मिली है। पूछते हैं क्या बेर को देखकर भयानक प्रलयकाल की ओर ध्यान जाता है और आक को देखकर प्रलयकाल के अनेक सूर्यों की ओर ?"

जायसी की भूमिका में पनघट-वर्णन की चर्चा करते हुए शुक्लजी को वह कथा याद आ जाती है जब पनघट पर बैठे केशवदास को स्त्रियों ने बाबा कहा था और केशव ने "केसन अस करी" वाला दोहा कहा था। लिखा है "बूढ़े केशवदास ने पनघट ही पर बैठे-बैठे अपने सफेद बालों को कोसा था।"

केशव से उन्हें कई तरह की शिकायतें हैं। बुढ़ापे में भी उनका नायिका-भेदी दृष्टिकोण दूर न हुआ, यह एक है। भोंडे अलंकारों से चमत्कार पैदा करने की कोशिश की, यह दूसरी है। इस चमत्कारवाद को शुक्लजी काव्य का बहुत बड़ा दोष मानते हैं। इससे स्वाभाविक भावोत्कर्ष की गुञ्जाइश नहीं रहती। "सूरदास" में "निरखत अङ्क श्यामसुन्दर के बार-बार लावति छाती" में अङ्क और श्याम के श्लेष की दाद देते हुए शुक्लजी कल्पना करते हैं कि केशव "ह्वै गई श्याम श्याम की पाती" के विषय पर किस चमत्कारवाद का नमूना पेश करते। गद्य में केशव की पैरोडी करते हुए शुक्लजी लिखते हैं "यदि केशवदास के ढंग पर सूर भी यहाँ उक्त शब्द साम्य को लेकर 'कृष्ण' और 'पत्री' की तुलना पर जोर देने लगते—कहते

कि पत्री मानों कृष्ण ही है, क्योंकि वह भी श्याम है और उसके भी अङ्क (वक्षस्थल) है—तो काव्य की रमणीयता कुछ भी न आती ।···केवल शब्दात्मक साम्य को लेकर यदि हम किसी पहाड़ को कहें कि वह बैल है क्योंकि इसे भी 'शृङ्ग' है, तो यह काव्य-कला तो न होगी, और कोई कला हो तो हो। 'क्या जरूरत है कि शब्दों की जितनी कलाबाजियाँ हों, सब काव्य ही कहलावें ?"

शुक्लजी काव्य-कला के पक्ष में हैं, कलाबाजी के नहीं। चमत्कारवादी कवियो के शब्दों के खिलवाड़ को वह काव्य कला नहीं मानते; उसे उन्होंने कलाबाजी की संज्ञा दी है। इस तरह अपने व्यंग्य से उन्होंने वर्तमानकाल के उन कवियों का भी विरोध किया है जो पुरानी कविता के प्रभाव से अब भी इस तरह का खिलवाड़ करते रहते हैं । अनुप्रासों की बहार दिखाने के लिये शुक्लजी के अनुसार, केशव ने मगध के पुराने जंगल के वर्णन में ऐसे पेड़ों के नाम गिना दिये हे जो वहा नहीं होते। केशव से उन्हें सबसे बड़ी शिकायत यह है कि उनमें "हृदय का तो कहीं पता ही नहीं" है ("गोस्वामी तुलसीदास")। "वीरसिंहदेव-चरित" में केशव ने अपनी "हृदय हीनता" ही नहीं, प्रबन्ध रचना में भी पूरी असफलता दिखा दी है। रामचन्द्रिका के लिये शुक्लजी ने कई जगह लिखा है कि वह "फुटकर पद्यों का संग्रह" मात्र है।

अपने इतिहास में उन्होंने केशव की भाषा की आलोचना की है। उनमें पद-न्यूनता, वाक्य-न्यूनता, फालतू शब्दों के प्रयोग आदि के दोष दिखलाये हैं। शुक्लजी ने केशव की जो बार-बार और कठोर आलोचना की है, उसका कारण उनके समय में और उनसे कुछ पहले भी केशव का मूल्य बहुत बढ़ा-चढ़ा कर आंकने की परम्परा थी । केशव को भाषा, छंदों और अलंकारों का आचार्य कहा जाता था। उनका काव्य समझना या बिना समझे ही सराहना विद्वत्ता की खास निशानी समझी जाती थी। केशवदास को सूर और तुलसी के बाद जगह दी जाती थी जिसका परिणाम यह था कि हिन्दी के अन्य कवियों के साथ न्याय न होता था। शुक्लजी ने केशव की वास्तविकता प्रकट करके आलोचना के पुराने सामन्ती मान दण्डों को बदलने में बहुत

केशव-सम्बन्धी आलोचना हठधर्मी और पूर्वग्रहों से बिल्कुल मुक्त है, इसका प्रमाण यह एक वाक्य है "उनका रावण-अंगद सम्वाद तुलसी के संवाद से कहीं अधिक उपयुक्त और सुन्दर है।" अपने आदर्श कवि तुलसी से रीतिकालीन कृत्रिमता के प्रतिनिधि कवि केशव को यहाँ बड़ा बताकर शुक्लजी ने चाहे तुलसी के साथ अन्याय किया हो लेकिन अपनी उदारता और हृदय की विशालता का परिचय अवश्य दिया है।

केशव के बाद अत्युक्ति और कृत्रिमता के लिये शुक्लजी ने बिहारी की आलोचना की है। जायसी से बिहारी की तुलना करते हुए उन्होंने लिखा है कि ऊहा द्वारा मात्रा के आधिक्य का निरूपण "काव्य के लिये सर्वत्र उपयुक्त नहीं।" ऊहा के विस्तार की मिसाल यह है। वह कुल का दीपक है, इस बात को लेकर कोई कहे, इससे उसके घर में तेल की बचत हो जाती है। जिन कवियों ने इस तरह ऊहा का विस्तार किया है, उनकी उक्तियों को शुक्लजी ने "अस्वाभाविक, नीरस और भद्दा" कहा है। बिहारी के "पत्रा ही तिथि पाइए" को उन्होंने ऐसा ही दोहा बतलाया है। ऊहा की आधारभूत वस्तु असत्य हो तो कृत्रिमता और बढ़ जाती है। जायसी की भूमिका में इसकी मिसालें उन्होंने बिहारी के विरहताप से दी हैं "जैसे पड़ोसियों को जाड़े की रात में बेचैन करने वाला, या बोतल में भरे गुलाबजल को सुखा डालने वाला ताप।" जायसी के नखशिख वर्णन को सरस बतलाते हुए बिहारी में भूषणों के दोहरे तेहरे, चौहरे जान पड़ने को अस्वाभाविक और कृत्रिम कहा है।

बिहारी की रचनाओं का आधार मानव जीवन की सहज अनुभूतियाँ उतना नहीं हैं जितना रीति-ग्रन्थ। इन काव्य-शास्त्रों के अनुसार कविता करने से कवियों की प्रतिभा किस तरह कुण्ठित हुई और उन्हें आधार न मानने से, मानव जीवन को ही अपना आधार बनाने से, तुलसी की काव्य-प्रतिभा कैसे उत्कर्ष पर पहुंची, यह तथ्य गोस्वामी तुलसीदास" में शुक्लजी ने इस वाक्य द्वारा प्रकट किया है "बिहारी रीतिग्रन्थों के सहारे जबरदस्ती जगह निकाल कर दोहों के भीतर शृङ्गार रस के विभाव-अनुभाव और संचारी ही भरते रहे।" शुक्लजी के समय में पुरानी परिपाटी के कवि और आलोचक नयी

कविता और नए कवियों पर यही आक्षेप किया करते थे कि इन्हें रीति-ग्रन्थों का पता नहीं है, उनकी अवहेलना की गई है, इत्यादि। रीति-ग्रन्थों का प्रभाव कविता पर कैसा पड़ा था, यह दिखाकर शुक्लजी ने इस तरह के कवियों और आलोचकों को उत्तर दिया था।

जैसे ये कवि थे, वैसे ही रातिग्रन्थों का हवाला देकर इनकी दाद देने वाले आलोचक भी थे। जायसी की भूमिका में शुक्लजी ने "अहाहा" और "वाह वाह" वाली आलोचना को जल्दी ही बन्द करने का सुझाव रखा है। "कहत सबै बेंदी दिए, आँक दसगुनों होत" में पुरानी चाल के आलोचकों ने गणित का चमत्कार देखा। "यह जग कांचो कांच सो, मैं समुझ्यो निरधार" में वेदान्त का पाण्डित्य देखा था। ऐसे आलोचकों को शुक्लजी सलाह देते हैं कि उन्हें "विचार से काम लेने और वाणी का संयम रखने का अभ्यास करना चाहिए। "रीतिकालीन कविता की सीमाएँ बतलाने के साथ-साथ शुक्लजी ने रीतिकालीन परम्परा की आलोचना की सीमाएं भी जता दीं। इस तरह के आलोचना हिन्दी पाठकों की साहित्यिक रुचि के संस्कार में बाधक थी। हिन्दी-साहित्य के पठन-पाठन में शुक्लजी से पहले उसी परिपाटी का बोलबाला था। विद्यालयों में पुरानी चाल की आलोचना नयी पीढ़ी के शिक्षितवर्ग को गुमराह कर रही थी। शुक्लजी ने आलोचना-क्षेत्र में लोगों की रुचि बदलने, एक पूरी पीढ़ी को सामन्ती काव्यालोचन के प्रभाव से मुक्त करने, उसे स्वाधीन चिन्तन के नये मार्ग पर आगे बढ़ाने में सबसे अधिक काम किया। यह उनका युगान्तरकारी कार्य है, इसमें सन्देह नहीं। उस युग में जब हिन्दी के आचार्य बिहारी के दोहों की टीका करना अपने पाण्डित्य का श्रेष्ठ प्रदर्शन मानते थे, जब देव बड़े हैं कि बिहारी, इस विवाद को लेकर पत्रिकाओं में वितंडावाद चलता था और पुस्तकें तक लिख डाली गई थीं, शुक्लजी ने इन तमाम आचार्यों की जरा भी परवाह न करते हुए इनके संकुचित और कृत्रिम भाव-क्षेत्र की असलियत जाहिर कर दी। "सूरदास" में बिहारी की पसीने में भीगती हुई नायिका के बारे में लिखते हैं: "उनकी नायिका को नायक के भेजे हुए पंखे की हवा लगने से उलटा और पसीना होता है। यह एक तमाशे की बात जरूर हो गई है।"

इतिहास मे शुक्लजी ने बिहारी के "अनुभावों हावों" की योजना का सुन्दर कहा है। उनकी सरसता की प्रशसा की है। लेकिन यह सब उन्होंने रीतिकालीन कवियों को देखते हुए कहा है और रीतिकालीन कवियों में भी "देव और पद्माकर के कवित्त-सवैयों का सा गूंजने वाला प्रभाव बिहारी के दोहों का नहीं जान पड़ता", यह लिखना वह नहीं भूले। बिहारी मे गागर में सागर भरने की कला की जो तारीफ की जाती है उसके लिये शुक्लजी कहते हैं कि यह "बहुत कुछ रूढ़ि की स्थापना" से सम्भव हुआ। रूढ़ि से तात्पर्य नायिका भेद की परपरा से है। लिखा है "यदि नायिका भेद की प्रथा इतने जोर से न चल गई होती तो बिहारी को इस प्रकार की पहेली बुझाने का साहस न होता।" इसका अर्थ यह हुआ कि बिहारी की कला का आधार नायिकाभेद की परम्परा थी और उसमे दक्ष विद्वान् ही उनकी गागरों पर लोटपोट हो जाते थे। बिहारी की कला मे महीन पच्चीकारी है लेकिन भव्यता, ओज और गाभीर्य नहीं हैं। बिहारी के प्रशसकों की तुलना शुक्लजी ने उन लोगों से की है जो "किसी हाथी-दाँत के टुकड़े पर महीन बेल-बूटे देख घण्टों वाह-वाह किया करते हैं। अन्तर इतना है कि बिहारी की भाषा मे हाथी दात के बेल-बूटों की नफासत नहीं है, उनके नायक नायिकाए भी हाथीदात के काम की तरह निष्काम नहीं हैं।

शुक्लजी सभी रीतिकालीन कवियों के विरोधी नहीं थे, इसका प्रमाण उनकी मतिराम-सम्बन्धी आलोचना है। उनका विचार है कि मतिराम को सच्चा कवि-हृदय मिला था लेकिन अपने समय की विचारधारा का प्रभाव उन पर भी पड़ा। यदि वह दरबारों से अलग रहे होते और उनकी प्रतिभा को स्वतन्त्र विकास का मौका मिला होता तो वह और बड़े कवि हुए होते। शुक्लजी इस सम्बन्ध में अपने इतिहास मे लिखते हैं "इनका सच्चा कवि-हृदय था। ये यदि समय की प्रथा के अनुसार रीति की बँधी लीकों पर चलने के लिये विवश न होते, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार चलने पाते, तो और भी स्वाभाविक और सच्ची भाव-विभूति दिखाते इसमें कोई सन्देह नहीं।" इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं, एक तो यह कि रीतिकालीन कविता

का मूल्याङ्कन करते हुए हमें इस बात का ध्यान रख... तातावरण और नायिकाभेदी परम्परा के बावजूद कौन स स्वाभाविक अनुभूतियों का चित्रण कर सके हैं, दूसरे यह कि रीति ... लीकों पर चलने से अच्छे कवियों की भी प्रतिभा कुण्ठित हुई है, साधारण कवियों की तो बात ही क्या।

शुक्लजी के अनुसार मतिराम की कविता सरस है और उसकी सरसता कृत्रिम नहीं, स्वाभाविक है। उनकी शैली का विशेष गुण—जो उन्हें केशव से अलग करता है और जिसके कारण शुक्लजी की उन पर विशेष कृपा है—यह है कि उसमें शब्दाडम्बर नहीं है, फालतू शब्दों की भर्ती नहीं है। बिहारी के समान उनमें अतिशयोक्तियां नहीं हैं। शुक्लजी के शब्दों में "नायिका के विरहताप को लेकर बिहारी के समान मज़ाक इन्होंने नहीं किया है।" उनकी भाव-व्यंजना भी सीधी हैं, "बिहारी के समान चक्करदार नहीं।" शुक्लजी के लिये केशव और बिहारी रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि हैं, प्राचीन रूढ़िवाद के सब अवगुणों की खान हैं। इसलिये किसी कवि की श्रेष्ठता दिखाने के लिये शुक्लजी सहज ही केशव और बिहारी से उसकी भिन्नता दिखाने लगते हैं।

मतिराम ने दोहे भी लिखे हैं लेकिन शुक्लजी ने बिहारी के दोहों से मतिराम के दोहों की तुलना नहीं की। शायद दोहा जैसा छोटा छन्द शुक्लजी को पसन्द नहीं था। मतिराम के सिलसिले में उन्होंने बिहारी के लिये लिखा है : "उन्होंने केवल दोहे कहे हैं, इससे उनमें वह नाद-सौन्दर्य नहीं आ सका है जो कवित्त सवैये की लय के द्वारा संघटित होता है।" केवल नाद-सौन्दर्य की दृष्टि से मतिराम के दोहे बिहारी के दोहों से बढ़कर हैं और तुलसी ने चातक सम्बन्धी दोहों में और रामचरितमानस के पचीसों दोहो में जो भिन्न-भिन्न कोटि का नाद-सौन्दर्य पैदा किया है, वह कवित्त-सवैयों से किसी तरह घटकर नहीं है।

शुक्लजी मतिराम की तरह देव को सहज प्रतिभा का कवि नही मानते। पहले उन्होंने देव के आचार्यत्व को लिया है। उनकी सम्मति है कि रीतिकाल में कोई भी कवि आचार्य कहलाने लायक नहीं हुआ; देव भी उस

स्थान के योग्य नहीं हैं। जिन लोगों ने देव को मौलिक चिन्तन का श्रेय दिया है, शुक्लजी के अनुसार उन्होंने ऐसा "भक्तिवश" किया है। शुक्लजी ने देव की मौलिकता के मूल को खोज निकाला है, इसीलिये उनके आचार्यत्व से प्रभावित होने से वह इन्कार करते हैं। पहले उन्होंने तात्पर्यवृत्ति को लिया है और बताया है कि नैयायिकों की तात्पर्यवृत्ति बहुत समय से प्रसिद्ध थी। तात्पर्यवृत्ति वाक्य के भिन्न पदों के "वाच्यार्थ को एक में समन्वित करने वाली वृत्ति" है। इसके बाद उन्होंने "छल-सचारी" को लिया है और इसका उद्भव संस्कृत की रस तरंगिणी बतलाया है। "छल सचारी" की उद्भावना को मौलिक कहकर देव की तारीफ करने वालों पर शुक्लजी दो कारणों से नाराज हैं, एक तो यह कि देव की सूझ मौलिक नहीं है, दूसरे यह कि गिनाये हुए सचारियों में भावों की सख्या बहुत बड़ी है। जायसी की भूमिका में वह लिखते हैं "आश्चर्य ऐसे लोगों पर होता है जो 'देव' कवि के छल नामक एक और सचारी ढूँढ निकालने पर वाह वाह का पुल बाधते हैं और देव को एक आचार्य समझते हैं।" रीतिवादी आचार्यों को मानों उन्हीं के घर में शास्त्रार्थ के लिये चुनौती देते हुए शुक्लजी कहते हैं गोस्वामी जी की आलोचना में मैं कई ऐसे भाव दिखा चुका हूँ जिनके नाम सचारियों की गिनती में नहीं हैं।" गिनाये हुए सचारियों को उन्होंने उपलक्षणमात्र माना है। उनका दावा है कि सचारी और भी कितने हो सकते हैं और जो नये सचारी नहीं देख सकता, वह आचार्य कैसा ?

देव के अनुसार अभिधा उत्तम काव्य है, लक्षण मध्यम है और व्यजना अधम है। शुक्लजी का कहना है कि शब्द-शक्ति के निरूपण में हिन्दी के रीतिग्रंथ आमतौर से कोरे हैं, इसलिये देव की स्थापना पर ज्यादा कहने का "अवकाश नहीं" है। देव को "बेनीफिट ऑफ डाउट" देते हुए उन्होंने अनुमान किया है कि व्यजना से देव का मतलब "पहेलीबुझौवलवाली वस्तु-व्यजना" से रहा होगा। शुक्लजी स्वय अभिधा को उत्तम, लक्षणा को मध्यम और व्यजना को अधम मानने के लिये तैयार नहीं थे। रीतिग्रंथों में इस विषय का समुचित निरूपण नहीं हुआ, इसका दिलचस्प कारण यह है "इस विषय का सम्यक् ग्रहण और परिपाक जरा है भी कठिन।"

देव में कवित्वशक्ति थी, मौलिकता भी थी (आचार्य ... मौलिकता), लेकिन उनकी प्रतिभा के विकास में "उनकी रुचि-विशे... बाधक हुई है।" यह रुचि-विशेष क्या है ? यह रुचि वही दरबारी रुचि ... जिसने मतिराम की प्रतिभा को भी एक हद तक कुंठित किया था। देव अनुप्रासों के प्रेमी थे, इसलिये पेचीदा मजमून बांधते हुए "अनुप्रास के आडम्बर की रुचि बीच ही में उसका अङ्गभङ्ग करके सारे पद्य को कीचड़ में फँसा छकड़ा बना देती थी।" देव में लफ्फ़ाजी बहुत है, थोड़े से अर्थ के लिये बहुत से शब्दों का खर्च है। उन्होंने शब्दों को काफी तोड़ामरोड़ा भी है। यह कृत्रिमता भाषा तक सीमित नहीं है; उनका प्रेम-वर्णन भी काफी कृत्रिम है। "सूरदास" में शुक्लजी ने लिखा है : "पीछे देव कवि ने एक 'अष्टयाम' रचकर प्रेम-चर्य्या दिखाने का प्रयत्न किया; पर वह अधिकतर एक घर के भीतर के भोग-विलास की कृत्रिम दिनचर्या के रूप में है। उसमें न तो वह अनेकरूपता है, न प्राकृतिक जीवन की वह उमङ्ग।" इस पर भी इतिहास में उन्होंने स्वीकार किया है कि देव जहाँ भाव का निर्वाह कर पाये हैं, वहाँ रचना बहुत ही सरस हुई है। शुक्लजी काव्य की विषयवस्तु और उसके रूपों को अलग करके नहीं देखते ; दोनों में विषयवस्तु को नियामक मानते हैं। इसीलिये देव की सरसता को भाव-निर्वाह पर निर्भर कहा। इसके विपरीत डा० नगेन्द्र यह मानते हुए कि "देव की भाषा में उचित व्यवस्था नहीं मिलती," कहते हैं : "उन्होंने ब्रजभाषा के माधुर्य और संगीत की अपूर्व श्रीवृद्धि की है; उसको औज्ज्वल एवं कान्ति आदि गुणों से अलंकृत किया है तथा उसकी शक्तियों का संवर्धन किया है—और इस प्रकार ब्रजभाषा की पूर्ण समृद्धि का श्रेय निस्संदेह ही उनको दिया जा सकता है।" माधुर्य है, औज्ज्वल्य है, कान्ति है, समृद्धि है, भाषा फिर भी अव्यवस्थित है ! डा० नगेन्द्र ने शुक्लजी की दृष्टि को "वस्तुपरक" कहा है जो "भाषा के स्वरूप की व्यवस्था तथा स्वच्छता पर पड़ती है।" शुक्लजी के लिये भाषा की समृद्धि भावों की समृद्धि से अलग नहीं है। वह रूप को विषयवस्तु से, शब्द को अर्थ से अलग करके नहीं देखते। इसीलिये देव की सरसता वहाँ देखते हैं जहाँ भाव

का निर्वाह देखते हैं । डा० नगेन्द्र के विवेचन में भाषा का मूल्याङ्कन भाव-निर्वाह का विचार करते हुए नहीं किया गया ।

मतिराम की तरह पद्माकर में भी शुक्लजी को सहज कवि-प्रतिभा के लक्षण मिले हैं। उनकी कल्पना "स्वाभाविक" है, मूर्त्तिविधान सजीव है भाषा स्निग्ध और मधुर है और "एक सजीव भावभरी प्रेममूर्ति खड़ी करती है।" पद्माकर को अनुप्रासों से बड़ा प्रेम था लेकिन "यह प्रवृत्ति इनमें अरुचिकर सीमा तक कुछ विशेष प्रकार के पद्यों ही में मिलेगी।" अन्य रीतिकालीन कवियों से पद्माकर किस बात में भिन्न हैं ? इस बात में कि वह अतिरंजित चित्रों द्वारा पाठक को प्रभावित न करना चाहते थे "ये ऊहा के बल पर कारीगरी के मजमून बाँधने के प्रयासी कवि न थे, हृदय की सच्ची स्वाभाविक प्रेरणा इनमें थी।" पद्माकर की भाषा में जहाँ-जहाँ लाक्षणिकता मिलती है, उसे शुक्लजी ने उनकी "एक बड़ी भारी विशेषता" कहा है जिससे मालूम होता है कि शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग को शुक्लजी एक गुण मानते थे।

शुक्लजी ने रीतिकालीन कवियों पर विस्तार से नहीं लिखा जैसे उन्होंने जायसी या तुलसी पर लिखा है। यदि वह लिखते तो किस रीतिकालीन कवि ने संस्कृत से कितनी और कैसी नक्ल की थी, यह रहस्य वह अवश्य प्रकट कर जाते। फिर भी चलते-चलते जहाँ तहाँ इस विषय में उन्होंने जो कुछ लिख दिया है, उससे केशव आदि के आचार्यत्व का आतङ्क काफी दूर हो जाता है। शुक्लजी को आपत्ति केवल हिन्दी के रीतिग्रंथों पर नहीं है, उन्हें सस्कृत रीतिग्रंथों पर, जीवन और साहित्य के प्रति उनके दृष्टिकोण पर भी आपत्ति है। जायसी की भूमिका में रत्नसेन के क्रोध की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने लिखा है "रस की रस्म के विचार से तो उपर्युक्त वर्णन पूरा ठहर जाता है", साहित्य के आचार्यों ने अपने मुँह आप बड़ाई करने को रौद्ररस का अनुभव कहा है, वह भी मौजूद है लेकिन यह सामग्री होते हुए भी यह कहना पड़ता है कि "रौद्ररस का परिपाक जायसी में नहीं है।" इसका कारण यह है कि रीतिग्रंथों के सारे नियमों का पालन करने पर भी रस परिपाक नहीं होता क्योंकि "जायसी का कोमल भावपूर्ण हृदय उग्र

वृत्तियों के वर्णन के उपयुक्त नहीं था।" यह रीतिग्रंथों के नियमवाद की सीमा हुई।

शुक्लजी संचारियों की गिनती गिनाने वाले आचार्यों और उनकी नकल करने वाले कवियों का विरोध हिन्दी ही में नहीं, संस्कृत काव्यक्षेत्र में भी करते हैं। वह तुलसी में छोटे-छोटे संचारी भावों की मार्मिक व्यंजना को सराहते हुए अन्य कवियों में भावों की दीनता का कारण बतलाते हुए लिखते हैं: "उन्होंने ऐसे-ऐसे भावों का चित्रण किया है जिनकी ओर किसी कवि का ध्यान तक नहीं गया है। संचारियों के भीतर वे गिनाए तो गए नहीं हैं; फिर ध्यान जाता कैसे?" यह रीतिग्रन्थों मात्र की सीमा है, केवल हिन्दी रीतिग्रन्थों की नही। शुक्लजी का आदेश है, रीतिग्रन्थों में गिनाए हुए संचारियों से संतोष न करके मानव-जीवन की ओर देखो। रीतिकाल की पराधीनता से साहित्य को मुक्त कराने का यह महत्वपूर्ण प्रयास था। तुलसी सभी रीतिकालीन कवियों से महान् हैं क्योंकि "गोस्वामीजी सब भावों को अपने अन्तःकरण में देखने वाले थे केवल लक्षणग्रन्थों में देखकर उनका सन्निवेश करने वाले नहीं।"

संस्कृत नाटकों में हास्यरस का आलंबन आमतौर से विदूषक होता था। इस तरह हास्य के लिये भी एक निश्चित आलंबन का विधान कर दिया गया था, उसकी स्वाभाविकता और अनेकरूपता सीमित कर दी गई थी। तुलसी के हास्य की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने लिखा है: "इसके आलंबन का स्वरूप भी विदूषकों का सा कृत्रिम नहीं है।" आलंबनों को सीमित करने और उनका स्वरूप कृत्रिम बनाने का काम हिन्दी कवियों ने कम संस्कृत कवियों और आचार्यों ने ज्यादा किया था। शुक्लजी संस्कृत साहित्य में जहाँ-जहाँ सामन्ती रूढ़ियाँ हैं, उनकी सीमाएँ भी बतलाते गए हैं।

शुक्लजी ने काव्य को सुन्दर सूक्तियों तक सीमित रखने का जो विरोध किया है, वह विरोध हिन्दी-उर्दू तक सीमित नहीं है; उन्हें मालूम था कि बिहारी की बहुत सी सूक्तियाँ संस्कृत से ली हुई हैं। इसी तरह उद्दीपन के लिये कुछ वस्तुओं की गिनती करने की प्रथा संस्कृत से चली आ रही थी, जिसका शुक्लजी ने विरोध किया है। अलङ्कारों से चमत्कार पैदा करने की

पद्धति सस्कृत से चली आ रही थी। शुक्लजी अलकारो का उचित प्रयोग चमत्कार के लिये नहीं, भावोत्कर्ष के लिये मानते हैं। उनका विरोध उस तरह के चमत्कार से नहीं है जो भावोत्कर्ष में होता है। कहीं-कहीं शुक्लजी ने स्वय अलकार-निरूपण बहुत विस्तार से किया है, वह सम्भवत अलकार शास्त्रियों को परास्त करने के लिये। इस तरह के निरूपण ने कहीं-कहीं उनकी आलोचना को तूल दे दिया है और दूसरी आवश्यक बातों की चर्चा कम हो पायी है या छूट गयी है। तुलसी के बाह्य-दृश्य-चित्रण पर लिखते हुए शुक्लजी को लगता है कि अलकार-शास्त्री उकता रहे होंगे कि अलकारो की चर्चा क्यो नहीं हो रही। ऐसे उकताने वालों को लक्ष्य करके कहते हैं "अलकारों पर वाह-वाह न कहने पर शायद अलकार-प्रेमी लोग नाराज हो रहे हों, उनसे अत्यन्त नम्र निवेदन है कि यहाँ विषय दूसरा है।" यानी तुम्हारी समझ से बाहर है, इसलिये जरा सब्र करो। अलकार-प्रेमियों को लताड़ बताकर शुक्लजी ने उन्हें सावधान कर दिया है कि हैसियत से बाहर न बोला करें।

मूलबात यह है कि शुक्लजी कृत्रिमता और चमत्कारवाद के विरोधी थे। विषयवस्तु में कृत्रिमता, रूप में चमत्कार-प्रेम—यह विशेषता साधारणत सभी दरबारी साहित्य की होती है, चाहे वह सस्कृत और हिन्दी का हो चाहे फारसी और उर्दू का। शुक्लजी ने कृत्रिमता और चमत्कार प्रेम की व्यापक आलोचना करके किसी भी भाषा के साहित्य को सामन्ती रूढियो से मुक्त होने का रास्ता बतलाया है। जब तुलसी के लिये वह कहते हैं "वे चमत्कारवादी नहीं थे", तब वह चमत्कारवादी धारा से साहित्य की वास्तविक रसवादी धारा को अलग करते हैं, वह साहित्य की वास्तविक प्रगतिशील और जनवादी धारा को सामन्ती और पतनशील धारा से अलग करते हैं। बिहारी के "कनक कनक तें सौ गुनो" और रहीम के कुछ विशेष दोहों की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने जायसी की भूमिका में लिखा है "ऐसे कथनों में आकर्षित करने वाली वस्तु होती है वर्णन के ढग को चमत्कार।" यह चमत्कार आकर्षक होता है अवश्य लेकिन वैसे ही जैसे "कोई तमाशा आकर्षित करता है।" यह चमत्कारवाद सच्चा काव्य नहीं है।

चमत्कारवादी और रसवादी काव्य का लक्ष्य एक नहीं होता। शुक्लजी कहते हैं: "मन को इस प्रकार से ऊपर ही ऊपर आकर्षित करना, केवल कुतूहल उत्पन्न करना, काव्य का लक्ष्य नहीं है। उसका लक्ष्य है मन को भिन्न-भिन्न भावों में (केवल आश्चर्य में नहीं, जैसा चमत्कारवादी कहा करते हैं) लीन करना।" यहाँ सामन्ती साहित्य मात्र के चमत्कारवाद की सीमाएं शुक्लजी ने दिखाई हैं, उससे काव्य के स्वाभाविक विकास में कैसे बाधा पड़ती है, यह स्पष्ट कर दिया है।

काव्य की विषयवस्तु में यह चमत्कारवाद किस तरह की कृत्रिमता पैदा करता है, इसका व्यंग्यपूर्ण वर्णन शुक्लजी ने "गोस्वामी तुलसीदास" में किया है। लिखा है: "कहीं विरह-ताप से सुलगते हुए शरीर से उठे धुंए के कारण ही आकाश नीला दिखाई पड़ता है। कौवे काले हो जाते हैं। कहीं रक्त के आंसुओं की बूंदें टेसू के फूलों, नई कोपलों और गुंजा के दानों के रूप में बिखरी दिखाई पड़ती है। कहीं जगत् को डुबाने वाले अश्रु-प्रवाह के खारेपन से समुद्र खारे हो जाते हैं। कहीं भारभूत शरीर की राख का एक एक कण हवा के साथ उड़ता हुआ प्रिय के चरणों में लिपटना चाहता है। इसी प्रकार कहीं प्रिय का श्वास मलयानिल होकर लगता है कहीं उसके अंग का स्पर्श कपूर के कर्दम या कमल दलों की खाड़ी में ढकेल देता है।"

नायक-नायिकाओं का यह संसार हिन्दी की ही निधि नहीं है, उससे मिलती-जुलती चीजें संस्कृत में भी हैं और फारसी और उर्दू के शायरों ने तो नाजुकख्याली की कमर ही तोड़ दी है। शुक्लजी की आलोचना इस तरह के सामन्ती भाव-जगत् की कृत्रिमता दिखाकर कवियों और आलोचकों को यथार्थवाद की भूमि पर बढ़ने की प्रेरणा देती है।

रीतिकालीन कवियों की आलोचना में शुक्लजी ने उनकी भाषा पर विशेष ध्यान दिया है। बीसवीं सदी में केशव-देव-बिहारी के समर्थक खड़ी बोली के कवियों पर ऊबड़खाबड़ भाषा लिखने का आरोप लगाया करते थे। शुक्लजी ने दिखलाया है कि दरबारी कवि अपना तमाम फुर्सत का वक्त भाषा को व्यवस्थित करने में भी न लगा सके। इतिहास में शुक्लजी ने लिखा है: "यदि शब्दों के रूप स्थिर हो जाते और शुद्ध रूपों के प्रयोग पर

जोर दिया जाता तो शब्दो को तोड़-मरोड़ कर विकृत करने का साहस कवियों को न होता। पर इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं हुई जिससे भाषा मे बहुत कुछ गड़बड़ी बनी रही।" इस व्यवस्था के न होने का एक कारण यह भी है कि यह भारतीय सामन्तवाद का पतनकाल था। छोटे-छोटे राज्य एक दूसरे से अलग साहित्य के सरक्षक बने हुए जातीय जीवन को एक करने मे असमर्थ थे। इसबोयन आदि विकृत शब्दो के प्रयोग से शुक्लजी को विशेष अरुचि है और उन्हे इनका प्रयोग करने वालों की कविता "गँवारो की रचना सी लगती है।"

कुछ लोग भाषा मे कहावतो और मुहावरो के प्रयोग पर बहुत जोर देते हैं। भाषा के स्वाभाविक प्रवाह म कहावतें और मुहावरे अच्छे लगते हैं लेकिन कविता यदि कहावतो और मुहावरों का प्रदर्शन करने के लिये ही लिखी गयी हो, तो यह भी चमत्कारवाद का दूसरा रूप होगा। इसलिये यह धारणा ठीक नहीं कि जिस कवि की भाषा मे जितने ही ज्यादा मुहावरे और कहावत होगी, वह उतना ही बड़ा कवि होगा। काव्य की उत्कृष्टता के लिये मुहावरों की गिनती गिनाना भी सामन्ती कविता का एक लक्षण है। जायसी की रचना मे कहावतों और मुहावरों के स्वाभाविक प्रयोग की चर्चा करते हुए शुक्लजी कहते हैं "मुहाविरो को अधिक प्राधान्य देने से रूढ पद-समूहों मे भाषा बँधी सी रहती है, उसकी शक्तियो का नवीन विकास नहीं हो पाता।"

शुक्लजी ने रीतिकालीन कवियो को आचार्य नहीं माना, उनके चमत्कारवाद को अवाछनीय बतलाया है, जहाँ वह दरबारी प्रभाव से बचते हुए सरस और स्वाभाविक कविता कर सके हैं, वहाँ उन्होने उसकी सराहना की है। शुक्लजी का यह दृष्टिकोण रीतिकालीन कविता का सही मूल्याङ्कन करने के लिये अनिवार्यरूप से ग्राह्य है, इसमें सन्देह नहीं।

साधारण जनता और दरबारो की रुचि मे भेद करते हुए शुक्लजी ने जिस तरह रीतिकालीन कविता के मूल्याङ्कन का सवाल उठाया है, उससे कुछ आलोचक असहमत हैं। डा० नगेन्द्र ने "रीतिकाव्य की भूमिका" की भूमिका मे द्विवेदीयुग के आलोचकों, छायावाद के प्रतिनिधि कवियो और लेखको

और प्रगतिशील समीक्षकों द्वारा रीतिकाव्य की "उपेक्षा" पर खेद प्रकट करते हुए अपना शुद्ध कलावादी दृष्टिकोण यों पेश किया है: "मैंने शुद्ध साहित्यिक (रस) दृष्टि से ही इस कविता की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण और मूल्याङ्कन करने का प्रयत्न किया है—अन्य बाह्य मूल्यों को प्रयत्नपूर्वक बचाया है। और इस दृष्टि से आप देखेंगे कि यह काव्य न हेय है और न उपेक्षणीय। इस रसात्मक काव्य का अपना विशेष महत्व है।"

नगेन्द्रजी के इस वाक्य से एक बात स्पष्ट हो जाती है और वह यह कि बीसवी सदी के हिन्दी लेखक ज्यादातर रीतिकालीन परम्परा के विरोधी रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य कुल मिलाकर सामन्ती विरोधी मार्ग पर आगे बढ़ा है। इसीलिये नगेन्द्रजी ने रीतिकाल की उपेक्षा करने वालों में द्विवेदी युग के लेखकों, छायावादियों और प्रगतिवादियों इन सभी को रखा है। रीतिकाल की इतनी "उपेक्षा" (अर्थात् विरोध) होने के कारण उसे अब मिश्रबन्धु-पद्धति से हिन्दी काव्य की सुनहली परम्परा के रूप में रखने का साहस कम लोगों को होगा। इसलिये उसका विशेष महत्व" दिखाने के लिये "शुद्ध साहित्यिक" दृष्टि से उसका मूल्य आंकने की बात उठाई जा रही है।

नगेन्द्रजी का दृष्टिकोण उनकी इच्छा रहने पर भी शुद्ध साहित्यिक नहीं रह पाया, यह युग का प्रभाव है। शुक्लजी और उनके बाद की हिन्दी आलोचना में साहित्य के सामाजिक आधार को इतना महत्व दिया गया है कि उस प्रभाव से शुद्ध रस-दृष्टिवालों का बच निकलना भी संभव नहीं है। नगेन्द्रजी की पुस्तक का पहला अध्याय ही "रीतिकाव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि" है। यह बात दूसरी है कि इस पृष्ठभूमि में ऐतिहासिक सचाई कितनी है।

डा० नगेन्द्र की इतिहास-सम्बन्धी मूल स्थापना यह है कि हिन्दी साहित्य का रीतिकाल मुगल साम्राज्य का ह्रासकाल है और यह मनुष्य के "ऑलराउण्ड" ह्रास का भी काल है। सबसे पहिले राज्य-व्यवस्था का ह्रास हुआ। दक्षिण में "उपद्रव आरम्भ होगए थे"। इससे अधिक दुख की बात क्या हो सकती थी कि दक्षिण की कुछ जातियाँ मुगल साम्राज्य से अलग होने का

प्रयत्न करने लगी थीं। "इधर पंजाब में सिखों का असन्तोष बढ़ रहा था।" दक्षिण की दशा और भी खराब थी।" अंग्रेज इतिहासकारों ने सदा यही शिक्षा दी है कि उनके राज्य-विस्तार से पहले यहाँ अव्यवस्था थी, उन्होंने आकर यहाँ शान्ति और व्यवस्था कायम की। यहाँ के सामाजिक जीवन में जातीय संगठन की क्षमता रखने वाली जो शक्तियाँ उभर रही थीं, उन्हें अंग्रेज इतिहासकारों ने कम देखा है। उन्हीं के प्रभाव से नगेन्द्रजी ने भी लिखा है "सम्वत् १७६४ के बाद भारतीय इतिहास घोर राजनीतिक पतन और अव्यवस्था का इतिहास है।

इस पतन और अव्यवस्था से, लगता है, हमें अंग्रेजों ने उबारा। इसका प्रमाण यह है कि १८५७ का स्वाधीनता-संग्राम नगेन्द्र जी को पतन और अव्यवस्था की चरम परिणति मालूम होता है। आँखों पर सहसा विश्वास नहीं होता लेकिन ऊपर के वाक्य के बाद ही नगेन्द्रजी ने लिखा है "यह अशान्ति और अव्यवस्था क्रमशः बढ़ती ही गई और अन्त में १९१४ (अर्थात् सन् १८५७) के गदर में जाकर इसका पूर्ण पर्यवसान हुआ।"

व्यवस्था के ह्रास के साथ व्यक्तियों का ह्रास हुआ। "व्यक्तित्व का इतना घोर अकाल और किसी युग में नहीं पड़ा।" व्यक्तित्व के अकाल में कविता की फसल चौपट हो गई। हाँ एक व्यक्तित्व हुआ था औरङ्गजेब का। लिखा है "इस युग में उत्तरी भारत ने औरङ्गजेब को छोड़कर कोई भी प्रथम श्रेणी का व्यक्तित्व पैदा नहीं किया।"

इसके बाद बुद्धि का ह्रास हुआ। न केवल हिन्दुओं का, बल्कि मुसलमानों का भी बौद्धिक पतन हुआ। "इस समय हिन्दुस्तानियों का बौद्धिक धरातल बहुत नीचा हो गया था।" हिन्दुस्तानियों में आप मुसलमानों को शायद न गिनें, इसलिए नगेन्द्रजी ने अलग से भी स्पष्ट कर दिया है "मुसलमानों का भी बौद्धिक ह्रास बड़े वेग से हो रहा था।"

हिन्दू और मुसलमान संयुक्त मोर्चा बनाकर जब बौद्धिक ह्रास में लगे हुए थे, तब जीवन-दर्शन का भी ह्रास हुआ। ठीक भी है, "जिस युग में राजनीतिक और आर्थिक पराभव अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया हो उस युग का दृष्टिकोण स्वस्थ कैसे हो सकता है?"

तब बचा क्या था ? एक बँधा हुआ रुग्ण जीवन शेष था ।" और बुद्धि के नाम पर क्या बचा था ? "केवल स्थूल भोग-बुद्धि ही बच रही थी ।" आप कहेंगे, इन सब बातों का रीतिकालीन कविता से क्या सम्बन्ध है ? सुनिये : "हम कह चुके हैं कि रीति-कविता शुद्ध सामन्तीय वातावरण की सृष्टि है ।"

यह सब देखने-सुनने के बाद यह नहीं कहा जा सकता कि नगेन्द्रजी ने रीतिकालीन कविता का विश्लेषण शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से किया है । उन्होंने सामाजिक पृष्ठभूमि का बराबर ध्यान रखा है लेकिन न तो इस पृष्ठभूमि की समझ सही है, न उससे साहित्य का सम्बन्ध सही-सही दिखाया गया है । नगेन्द्रजी ने जिसे उपद्रव, अव्यवस्था आदि कहा है, वह अक्सर स्वाधीनता के लिये जनता के प्रयास भी थे, ये वह भूल गये हैं । आर्थिक पराभव की बात करते हुए वह यहाँ के बड़े-बड़े व्यापारियों और महाजनों को भूल गये हैं जिनमें से कुछ के बूते पर अंग्रेज उधार लेकर यहाँ व्यापार करते थे । वह यहाँ के उद्योगधन्धों के विकास से बिल्कुल बेखबर हैं जिन्हें १६ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में अंग्रेजों ने पाशविक बर्बरता से तहस-नहस किया था । इसलिए नड़ेन्द्रजी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का इतिहास से बहुत कम सम्बन्ध है ।

अपनी कल्पित ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से उन्होंने यह नतीजा निकाला है कि यह घोर निराशा का युग था और कामिनी-सेवन के अलावा लोगों के लिये और कोई चारा न था । नगेन्द्रजी के लिये रीतिकालीन कविता "जैसे जीवन का एक विरामस्थल है जहा सभी प्रकार की दौड़धूप से श्रान्त होकर मानव नारी की मधुर अंचल-छाया में बैठकर अपने दुःखों और पराभवों को भूल जाना चाहता है ।" दुखो और पराभवों की बात कहकर नगेन्द्रजी दर-बारी कविता के प्रति सहानुभूसि जगाने के लिये अपना पहला तर्क देते हैं । वह मानते हैं कि रीतिकालीन कविता का आधार यह "सीमित" है, वह "एकांगी" है, इसलिये आपको उनकी निष्पक्षता में सन्देह न होगा । फिर सिफारिश करते हैं : "घोर निराशा के इस युग में जीवन में किसी-न-किसी प्रकार ये कवि रस-संचार करते रहे; मैं समझता हूँ कम-से-कम इसके लिये तत्कालीन समाज को उनका कृतज्ञ अवश्य होना चाहिये ।" तत्कालीन समाज

तो अब है नहीं, इसलिये सिफ़ारिश उस तक पहुँच नहीं सकती। नगेन्द्रजी का समकालीन समाज अभी जरूर बना हुआ है और सिफ़ारिश है भी उसी के लिये।

नगेन्द्रजी का दूसरा संकेत यह है कि इस युग में सामन्तीवर्ग का ही ह्रास नहीं हो रहा था, समस्त जनता का ह्रास हो रहा था। आजकल भी जब शासकवर्ग के सामने भ्रष्टाचार, घूसखोरी आदि की करामातें आती हैं तो वह जनता के नैतिक पतन की दुहाई देता है। नगेन्द्रजी "जीवन" शब्द का कवित्वपूर्ण प्रयोग करके जनता और उसके सामन्ती शासकों का भेद मिटा देते हैं "घोर अव्यवस्था से क्षत-विक्षत सामंतवाद के भग्नावशेष की छाया में त्रस्त और क्षीण जीवन एक बँधी लीक पर पड़ा हुआ यन्त्रवत् चल रहा था। क्षत-विक्षत था सामंतवाद, बंधी लीक पर चल रहा था "जीवन"। इसे "रीतिकाव्य की भूमिका" के अन्तिम पृष्ठा में उन्होंने और स्पष्ट कर दिया है। रीति-परम्परा के लिये कहते हैं "चिन्तामणि के समय तक उसे जन-रुचि का भी बल प्राप्त हो गया", "उनके समय से जनरुचि भी उनके साथ हो गई और रीतिग्रन्थों का ताता बँध गया।" इस तरह दरबारी कवियों के पापों के लिये नगेन्द्रजी ने जनरुचि को उत्तरदायी ठहराया है।

नगेन्द्रजी ने "रीतिकाव्य का शास्त्रीय आधार" नामक एक लम्बा प्रकरण लिखा है जिसमें ध्वनि, अलंकार, रस आदि के बारे में संस्कृत आचार्यों के मतों का परिचय दिया है। यह परिचय इसीलिये दिया है कि हिन्दी में रीतिकाव्य का आधार संस्कृत में मौजूद था। देव आदि के जिन आधार-ग्रन्थों का नाम शुक्लजी ने लिया था, उन्हें नगेन्द्रजी ने भी दोहराया है। अलंकार, नायिकाभेद आदि के निरूपण की परम्परा काफी पुरानी थी और शुक्लजी के अनुकरण पर—या उनके आतङ्क के कारण—आचार्यत्व के क्षेत्र में रीति-कालीन कवियों के लिये मौलिकता का दावा नगेन्द्रजी ने भी नहीं किया। रीतिकालीन कविता के लिये उन्होंने ठीक लिखा है कि वह एक प्राचीन परम्परा का नियमित विकास थी", उनकी यह उक्ति भी काफी सारगर्भित है कि "हिन्दी में रीति-परम्परा का आरम्भ तो उसके जन्मकाल से ही मानना पड़ेगा।" (हिन्दी के जन्म से नहीं, हिन्दी साहित्य के जन्म से कहना ज्यादा

संगत होगा)। यदि यह सच है तो निराशा, बुद्धि का ह्रास, मुगल साम्राज्य का पतन, उपद्रव और अव्यवस्था—ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के नाम पर नगेन्द्र जी ने यह जो भानमती का कुनबा जोड़ा था, उसका क्या हुआ ? वास्तव में उस कुनबे की सार्थकता यही थी कि वह नारी की मधुर अंचल-छाया में बैठने की कल्पना को एक आधार दे दे, वर्ना ह्रासवादी व्याख्या का कोई महत्व नहीं है।

और रीतिकालीन कविता में नगेन्द्रजी ने जो यह गुण ढूंढ़ निकाला है कि उसमें "एक मधुर रमणीयता—मन को विश्राम देने का गुण—अवश्य है", वह वर्तमान समाज के मध्यवर्गीय कवियों के लिये ज्यादा सही है, दरबारी वैभव में रहने वाले सामन्तों के चाटुकार कवियों के लिये नहीं। नगेन्द्रजी मानते हैं कि "ऑलराउंड" ह्रास के युग में केवल विलास की प्रगति हो रही थी। लिखा है : "अतिशय वैभव का यह युग अतिशय विलास का युग भी था।" एक तरफ़ नगेन्द्रजी स्वीकार करते हैं कि यह वैभव और विलास का युग था; दूसरी तरफ़ यह भी कहते जाते हैं कि दुख और पराभव (आर्थिक पराभव भी) के कारण कवि नारी के ऑचल की मधुर छाया तलाश करते थे। इन उलझी हुई बातों का कारण यह है कि दरबारी कवियों के प्रति सहानुभूति ज़गाने के लिये वह कारण ढूंढ़ रहे हैं और इस "रिसर्च" में उन्हें अपनी कही हुई बातों के परस्पर सम्बन्ध का ध्यान नहीं रहता।

सामन्ती वातावरण से दरबारी कवियों को जरा अलग करके देखने की दबी सी कोशिश उन्होंने की है। यह मानते हुए कि उन कवियों के लिये नारी भोगवस्तु थी, उन्होंने उनकी शृङ्गारिकता के लिये दावा किया है: "इसका स्वरूप प्रायः सर्वत्र ही गार्हस्थिक है।" यदि गार्हस्थिक जीवन का स्वरूप वही है जो नायिकाभेदी ग्रन्थों में मिलता है तो दरबारों, अंतःपुरों और साधारण गृहस्थों के घरों में ज्यादा फर्क न रहा होगा।

नायिकाभेदी कवियों ने गार्हस्थिक जीवन के कैसे चित्र दिये हैं, इसकी मिसाल देव से ही देना ज्यादा ठीक होगा क्योंकि नगेन्द्रजी के अनुसार "देव रस-सिद्ध प्रेमी कवि थे", "प्रेम का उन्हें अत्यन्त गम्भीर अनुभव था।" ये मिसालें भी हम अपनी ओर से न छाँटेंगे वरन् नगेन्द्रजी के कुछ प्रशंसा-

तर्कों से परिपुष्ट" बतलाया है। परिणाम यह कि रीतिकालीन कविता में काम का स्वाभाविक चित्रण किया गया है "वासना को उसमें अपने प्राकृतिक रूप में ग्रहण करते हुए उसी तुष्टि को निश्चल रूप से प्रेम रूप में स्वीकार किया गया है।"

काम का सबसे "प्राकृतिक रूप" पशुओं में होता है, उनका जीवन शुद्ध जीवन है, उस पर मानव-सभ्यता की नागरिकता की जरा भी छाप नहीं है। लेकिन अभी तक काम की इस प्राकृतिक अभिव्यक्ति के लिये किसी ने मनोविज्ञान की दुहाई देना जरूरी न समझा था। यह डा० नगेन्द्र की सर्वथा मौलिक सूझ है। आनन्द से अहंकार की उत्पत्ति हुई, अहंकार से अभिमान की, अभिमान से रीति की—इस तरह विवेचन को मनोवैज्ञानिक कहने वालों के लिये संसार में अवैज्ञानिक कुछ भी नहीं है। भारतीय दर्शन का सारतत्त्व निकालते हुए नगेन्द्र जी कहते हैं कि "भारतीय दर्शन के अनुसार जीव की दो मौलिक प्रवृत्तियाँ मानी गई हैं, राग और द्वेष। इनमें द्वेष राग का उल्टा है, इसलिये राग मूल प्रवृत्ति हुई। "फ्रायड का मत बिलकुल यही है।" उसने भी जो दो प्रवृत्तियाँ मानी है, वे "वास्तव में राग और द्वेष की ही पर्याय है।" और वेद में तो काम की महिमा गायी ही गयी है। इसलिये राग, काम, लिबिडो सब एक हैं। काम माना "गम्भीर की मूल प्रवृत्ति" है, इसलिये "सबसे अधिक गंभीर वृत्ति भी है"।

यह तो नगेन्द्रजी के मनोविज्ञान का सैद्धान्तिक रूप हुआ। अब उसकी रोशनी में नायिका-भेद की गहराइयों की थाह वह किस तरह लेते हैं, यह भी देखिये। "मैंने आगि" के मोम जैसा मन पिघल जाने वाली नायिका के बारे में देव की उक्ति पर नगेन्द्रजी मनोविज्ञान का प्रकाश डालते हुए लिखते हैं "यह प्रसङ्ग रस-सिक्त तो है ही साथ ही मनोविज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त सटीक है। प्रसिद्ध मनोवेत्ता फ्रायड ने एक ऐसी ही स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि बलात्कार के समय यदि कोई स्त्री परवश होकर आत्मसमर्पण कर देती है तो इसमें उसके सतीत्व पर शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि यह तो प्रकृति का आग्रह है। ऐसी परिस्थिति में, जहाँ उसका चेतन व्यक्तित्व बलात्कारी का विरोध करता है वहाँ उसका अवचेतन

नारीत्व उसकी सहायता करता है। चेतन मन कठोर होकर आक्रान्ता को जितना ही दूर हटाने का प्रयत्न करता है, आवचेतन नारीत्व पिघलता हुआ उसकी ओर बढ़ता जाता है।"

इस "मनोविज्ञान" के अनुसार कविता रचते, ऐसे गये गुजरे रीतिकालीन कवि भी नहीं थे। इस "मनोविज्ञान" के अनुसार साहित्य रचा जाता है अमरीका में जहाँ का सामाजिक जीवन हत्या और बलात्कार में सभी देशों से आगे बढ़ा हुआ है। डा० नगेन्द्र जैसे आकोचक हिन्दी साहित्य की उस तलछट के प्रतिनिधि हैं जो दरबारी संस्कृति की धारा के बह जाने पर कुछ दिमागों में जमा हो गई है। आज उन्हें अपने अनुकूल वातावरण नहीं मिलता; इसलिये वेद-पुराण और आधुनिक मनोविज्ञान की दुहाई देकर वे अपनी समाज-विरोधी प्रवृत्तियों के लिये सफ़ाई तलाश कर रहे हैं। इनका विवेचन अन्तर्विरोध से भरा पड़ा है क्योंकि—चोर नारि जिमि प्रकट न रोई—ये नायिका भेदी परम्परा के खत्म हो जाने पर खुलकर आँसू नहीं बहा सकते। वे एक सांस में उसकी ऐन्द्रियता, बिलासिता और सीमित भाव-जगत् को भला-बुरा कहते हैं, दूसरी सांस में वाशना की निश्छल अभिव्यक्ति, प्रेम की गम्भीर अनुभूति, मनोवैज्ञानिक गहराई—यह सब उसमें ढूंढ़ निकालते हैं। पच्छिम के मनोविज्ञान में जो कुछ घटिया है, पतनशील है, वही इन्हें प्रिय है। शुल्क जी ने भी आधुनिक मनोविज्ञान का अध्ययन किया था लेकिन उन्होंने उसके पतनशील रुझानों का जोरों से खण्डन किया था। प्रसादजी ने भी प्राचीन साहित्य में काम शब्द के प्रयोग का अध्ययन किया था लेकिन वेद में प्रयुक्त काम शब्द और वर्तमान अर्थ में प्रयुक्त होने वाले काम में भेद किया था। उस काम के व्यापक अर्थ से ही उन्होंने कामगोत्रजा कामायनी का संबंध जोड़ा था। लेकिन कहाँ प्रसादजी की कामायनी और कहाँ नगेन्द्रजी की (देव की नहीं) नायिका जिसका अवचेतन मन बलात्कार के समय आक्रान्ता की ओर सहानुभूति पैदा करता है। नारी पर पाशविक अत्याचारों के लिए कैसी बढ़िया "मनोवैज्ञानिक" सफ़ाई है।

डा० नगेन्द्र जैसे आलोचक दरबारी साहित्य की हिमायत करते हुए

भाषा है साहित्य की भाषा और उस भाषा की विभिन्न शैलियाँ बाद को आती हैं। यह एक सही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण शुक्लजी को उन गाढ़-गन्दकों मे गिरने से बचाता है जिनमें पड़े हुए हिन्दी और भारत की दूसरी भाषाओं के भी अनेक "वैज्ञानिक" आसमान के तारे गिन रहे हैं। इस दृष्टिकोण की वजह से शुक्लजी ने भाषा के इतिहास को समझने के लिए उसके पुस्तकों में दर्ज रूप को काफी नहीं माना। जो कुछ किताबों में लिखा हुआ है, वह सभी व्यवहार मे भी आता होगा, यह आवश्यक नहीं है। संस्कृत नाटकों में और स्वतंत्र रूप से भी जिस "प्राकृत" का व्यवहार किया गया है, उसे शुक्लजी ने चुपचाप लोक-व्यवहार की भाषा नहीं मान लिया है। जायसी की भूमिका में "गढ़ी हुई" प्राकृत से जायसी और तुलसी की स्वाभाविक भाषा की तुलना करते हुए उन्होंने लिखा है "जायसी और तुलसी ने चलती भाषा मे रचना की है, प्राकृत के समान व्याकरण के अनुसार गढ़ी हुई भाषा मे नहीं।" (वक्तव्य, प्रथम संस्करण)।

प्राकृतों की कुछ विशेषताओं का आधार बोलचाल की भाषाएँ न रही हों, यह बात नहीं है। ये विशेषताएँ—खास कर कुछ उच्चारण की विशेषताएँ बोलचाल की विशेषताएँ हैं या उन से बहुत मिलती-जुलती हैं लेकिन किसीभाषा का रूप उसके व्याकरण और मूल शब्दभंडार से निश्चित होता है। प्राकृतों का व्याकरण और शब्द-भंडार इतना मिलता जुलता है कि उन्हें अनेक भाषाएँ न कह कर एक ही भाषा कहना ज्यादा सही होगा। ऐसे युग में जब यातायात के साधन कम हो, परस्पर व्यवहार और मिलने जुलने में आज से कहीं ज्यादा कठिनाई हो, भाषाएँ एक दूसरे से और भी ज्यादा भिन्न होती हैं, थोड़ी थोड़ी दूर पर भी भाषा की विभिन्नता आज से ज्यादा होनी चाहिये। यदि ये प्राकृतें अलग अलग जातियों की भाषाएँ होतीं तो उनमें आज मराठी, गुजराती, हिन्दी, बंगला आदि में जितनी विभिन्नता है, उससे ज्यादा ही होतीं, कम न होतीं। लेकिन वास्तव में प्राकृतें एक दूसरे के इतना निकट हैं जितना मराठी, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाएँ तो क्या, एक भाषा की बोलियाँ भी एक दूसरे के निकट नहीं हैं। इसके सिवा प्राकृत

या प्राकृतों का व्याकरण और मूल शब्द भंडार प्रायः वही है जो संस्कृत का है। प्राकृत और संस्कृत का भेद मुख्य रूप से उच्चारण का भेद है, व्याकरण और मूल शब्द भंडार का नहीं लेकिन भारत या विदेश की किन्हीं दो बहुत ही मिलती-जुलती—भौगोलिक दृष्टि से भी पास-पास बोली जाने वाली भाषाओं को ले लीजिये यह साफ दिखाई देगा कि उनमें व्याकरण और मूल-शब्द भंडार की अपनी विशेषताएँ है जो उनका अपना भाषागत रूप स्थिर करती है इसलिये शुक्ल जी की स्थापना सही मालूम होती है और उस पर विचार करने के बाद संस्कृत से प्राकृत और प्राकृत से एकाधिक मंजिल के बाद हिन्दी का विकास हुआ—यह धारणा छोड़नी पड़ेगी। सबसे ज्यादा ध्यान इस बात पर देना होगा कि खड़ी बोली, ब्रज, अवधी आदि का व्याकरण संस्कृत और प्राकृत से कितना मिलता है, उसकी अपनी विशेषताए क्या हैं, क्या उनका आधार भी संस्कृत का व्याकरण है, इत्यादि। हो सकता है कि व्याकरण और मूल शब्द-भंडार पर विचार करने से हिन्दी और भी प्राचीन सिद्ध हो और वह संस्कृर-परिवार की तो मानी जाय लेकिन उसके व्याकरण के रूप, मूल शब्द आदि संस्कृत से निकले हुए न सिद्ध हों। इस विषय पर यहाँ विस्तार से लिखने का अवकाश नहीं है। भाषा संबन्धी खोज के लिये यह भी एक संभावित मार्ग है, इतना ही संकेत करना काफी होगा।

अपभ्रंश और खड़ी बोली के संबन्ध में शुक्लाजी की यह धारणा है कि अपभ्रंश हिन्दी का ही पुराना रूप नहीं है लेकिन हिन्दी के रूप की उसमें झलक जरूर मिलती है। अपने इतिहास में गद्य के विकास के सिलसिले में उन्होंने लिखा है: "भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय तक अपभ्रंश-काव्यों की जो परंपरा चलती रही उसके भीतर खड़ी बोली के प्राचीन रूप की झलक अनेक पद्यों में मिलती है।" अपभ्रंश और हिन्दी के व्याकरणों की तुलना करने से शुक्लजी की यह स्थापना सही मालूम होती है।

अपभ्रंश बोलचाल की भाषा नहीं थी, इस सम्बन्ध में लिखा है: "इस अपभ्रंश या प्राकृतभाषा हिंदी का अभिप्राय यह है कि यह उस समय की

ठीक बोलचाल की भाषा नहीं है जिस समय की इसकी रचनाएं मिलती हैं।"

भाषा का लिखित साहित्य न मिलने से यह साबित नहीं होता कि वह भाषा बोली भी न जाती थी। लिखित साहित्य के आधार पर ही भाषा की प्राचीनता निश्चित नहीं की जा सकती। सामाजिक विकास के साथ भाषा नये शब्द लेती है, कुछ शब्द छोड़ती है, समृद्ध होती है लेकिन उसके मूल व्याकरण और बुनियादी शब्दभंडार में बहुत ही कम परिवर्तन होता है। व्याकरण और मूल शब्दभंडार की विशेषताएं हजारों साल तक कायम रहती हैं। इसीलिये भाषा सबसे पहले मौखिक व्यवहार का माध्यम है, यह याद रखना चाहिये। इस सम्बन्ध में शुक्लाजी अपने इतिहास में लिखते हैं

"पर किसी भाषा का साहित्य में व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उस भाषा का अस्तित्व ही नहीं था। उर्दू का रूप प्राप्त होने के पहले भी खड़ी बोली अपने देशी रूप में वर्तमान थी और अब भी बनी हुई है।"

खुसरो से पहले हिन्दी में मौखिक साहित्य रचा जाता रहा होगा, इस बारे में शुक्लजी कहते हैं "कोई भाषा हो, उसका कुछ न कुछ साहित्य अवश्य होता है—चाहे वह लिखित न हो, श्रुति परम्परा द्वारा ही चला आता हो। अतः खड़ी बोली के भी कुछ गीत, कुछ पद्य, कुछ तुकबंदियां खुसरो के पहले से अवश्य चली आती होंगी।"

साहित्य का माध्यम बनने से पहले कितनी ही शताब्दियों तक भाषा मौखिक रूप में प्रचलित रहती है, लिखित साहित्य ऐसे बहुत से साधनों पर निर्भर रहता है जो भाषा के लिये नियामक नहीं हैं। इसलिये उसके मौखिक रूप पर ध्यान देते हुए हिन्दी की प्राचीनता पर नये सिरे से विचार करने की आवश्यकता है।

भाषा किसी समाज के व्यवहार का माध्यम होती है, उस समाज के सभी लोग—उनका धर्म चाहे अलग अलग हो—एक ही भाषा काम में लाते हैं। धर्म बदलने से या नये धर्म वालों के आ मिलने से भाषा नहीं

बदल जाती । मध्यकालीन भारत में पच्छिम से जब अनेक जातियों के आक्रमण हुए और उनमें से बहुत से लोग यहां बस गये, राज्यभाषा फारसी बनी, तब हिन्दी और अन्य भाषाओं पर नये प्रभाव पड़े, उनमें बहुत से शब्द आये लेकिन भाषाओं के मूल व्याकरण-रूपों में कोई कहने लायक तब्दीली न हुई । आक्रमणों से, आक्रान्ता जातियों के घुलमिल जाने से, धर्म बदलने से, नये धर्मवालों के आकर बसने से भाषा के मौलिकरूप में परिवर्तन नहीं होता ।

मध्यकालीन भारत में मुसलमानों के हमलों से, उनके यहाँ आकर उसने से—यानी अरबों, तुर्कों, ईरानियों, पठानो आदि के हमलों से, उनके यहाँ बस जाने से—खड़ी बोली, व्रज, अवधी आदि में कोई मौलिक परिवर्तन नही हुए, व्याकरण नहीं बदल गया, मूल शब्द-भंडार दूसरा नही हो गया । हमारे यहाँ एक अवैज्ञानिक धारणा प्रचलित रही है कि मुसलमानों और हिन्दुओं के मिलने से एक नयी भाषा का जन्म हो गया, उर्दू मुसलमानों की भाषा है, खड़ी बोली मुसलमनों के आने से फैली, इत्यादि । इस तरह की धारणाओं का इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

यहां के हिन्दुओं की कोई एक भाषा नहीं थी, उनकी अनेक भाषाएं थीं । यह याद दिलाना भी गलत न होगा कि अरब-हमलो से पहले भारत में हिन्दू धर्म के सिवा और दूसरे धर्म भी थे । इन धर्मवालों की भाषाएं धर्म के हिसाब से अलग-अलग न थीं । अपने अपने प्रदेशों में बसी हुई जातियां अपनी अपनी भाषाओं का उपयोग करती थी । किसी भी जाति में एक से ज्यादा धर्म होने पर एक से ज्यादा भाषाएं न हो जाती थीं । इस तरह अरब, ईरान, तुर्किस्तान, पठान देश आदि के मुसलमानों का धर्म एक होने पर भी उनकी भाषा एक न थी; जैसे आज उनमें भाषागत भेद है, वैसे ही तब भी था और अबसे ज्यादा ही था । इसलिये हिन्दुओं और मुसलमानो के मिलने से किसी नयी भाषा का बनना एक निराधार कल्पना है ।

खड़ी बोली पहले एक सीमित क्षेत्र की भाषा थी, यह सभी जानते हैं। जैसे अवधी, बुन्देलखंडी आदि जनपदीय भाषाएं या बोलियां हैं, वैसे ही पहले खड़ी बोली भी थी। अपने क्षेत्र के गावों में वह आज भी बोली जाती है जैसे अपने क्षेत्र के गावों में आमतौर से आज भी अवधी बोली जाती है। इस सीमित क्षेत्र से बाहर खड़ी बोली कैसे फैली? क्या यह मुसलमानों की विशेष भाषा थी और मुगल साम्राज्य के साथ उसका प्रसार हुआ?

पूर्वी बंगाल, मलाबार, पच्छिमी पंजाब, काश्मीर के मुसलमानों की भाषा कौनसी है? क्या खड़ी बोली? नहीं, उनकी भाषा बंगला, मलयालम, पंजाबी और काश्मीरी है। जिस जातीय प्रदेश के मुसलमान होंगे, वहीं की उनकी भाषा भी होगी। हिन्दी भाषा-क्षेत्र में उनकी बोलचाल की भाषा वही थी जो दूसरों की थी। गावों में दूसरे किसानों की तरह देहाती मुसलमान भी अवधी, भोजपुरी, बुंदेलखंडी आदि बोलते थे जैसे कि आज भी बोलते हैं। इसलिये यह समझना कि मुसलमानों या मुगल साम्राज्य के कारण खड़ीबोली फैली, एक भ्रम है। सबसे पहले भारतेन्दु ने खड़ी बोली के प्रसार का सम्बन्ध व्यापार की बढ़ती और शहरों में पछांह के व्यापारियों के बसने से जोड़ा था। "हिन्दी भाषा" नाम के निबन्ध में भारतेन्दु ने बनारस शहर के अन्दर प्रचलित अनेक बोलियों का हवाला देने के बाद लिखा था "जो हो यह तो सिद्धान्त है कि जो यहाँ के शिष्ट लोग बोलते हैं वह परदेसी भाषा है और यहाँ पश्चिम से आई है।" यह "परदेसी" भाषा पश्चिमोत्तर देश—यानी हिन्दी भाषी प्रदेश—में किन व्यापारी जातियों के साथ आयी, इसका जवाब भारतेन्दु के इस वाक्य से मिलता है "अब पश्चिमोत्तर देश में घर में बोलने की भाषा कौन है यह निश्चय नहीं होता क्योंकि दिल्ली प्रान्त के वा अन्य नगरों में भी खत्रियों वा पछाहीं अगरवालों वा और पछाहीं जातियों के अतिरिक्त घर में हिन्दी कोई नहीं बोलते बरंच यहाँ तो कोस कोस पर भाषा बदलती है।"*

* कवि वचपन सुधा, २ अक्तूबर १८७२।

शुक्लजी ने भारतेन्दु के इन सूत्रों को विकसित करते हुए व्यापारी जातियों के फैलने के साथ खड़ी बोली के प्रसार का सम्बन्ध इस तरह जोड़ा है। मुगल साम्राज्य के ह्रास के समय "दिल्ली के आस पास के प्रदेशों की हिन्दू व्यापारी जातियाँ (अगरवाले, खत्री आदि) जीविका के लिए लखनऊ, फैजाबाद, प्रयाग, काशी, पटना आदि पूरबी शहरों में फैलने लगीं।" शुक्लाजी ने खड़ी बोली के प्रसार का सम्बन्ध व्यापारी जातियों के साथ ठीक जोड़ा है। लेकिन व्यापारियों में हिन्दू ही नहीं थे, मुसलमान भी थे। व्यापारियों के अलावा यहाँ के साधारण लोगों का एक जनपद दूसरे जनपद में बसने का काम काफी दिन से चला आरहा था। यही कारण है कि लखनऊ या बनारस के मुसलमान जिन जनपदों से आकर वहाँ बसे थे, वहाँ की बोलियाँ अब भी घरों में बोलते हैं।

व्यापार के समय खड़ी बोली के प्रसार की घटना मुगल-साम्राज्य के पतन से पहले की है। शुक्लजी ने ठीक लिखा है: "अकबर और जहाँगीर के समय में ही खड़ी बोली भिन्न भिन्न प्रदेशों में शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा हो चली थी।" अकबर और जहाँगीर के समय व्यापार की बड़ी बड़ी मंडियां कायम हुईं, शेरशाह और उसके पहले से सामंती समाज के ढाँचे में पूंजीवादी सम्बन्ध पनप रहे थे, वे और मजबूत हुए। इसीलिए न सिर्फ दिल्ली और आगरे में बल्कि "भिन्न-भिन्न प्रदेशों में" खड़ी बोली शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा बनी। इस स्थापना के विपरीत शुक्लजी खड़ी बोली के गद्य के सिलसिले में जो पहले लिख गए हैं, वह सही नहीं हैं,: ",देश के भिन्न-भिन्न भागों में मुसलमानों के फैलने तथा दिल्ली की दरबारी शिष्टता के प्रचार के साथ ही दिल्ली की खड़ी बोली शिष्ट समुदाय के परस्पर व्यवहार की भाषा हो चली थी।" न तो खड़ी बोली केवल हिन्दू व्यापारी जातियो के साथ फैली, न मुसलमानो के फैलने और दरबारी शिष्टता के प्रचार के साथ उसका सम्बन्ध है। खड़ी बोली के प्रसार का सम्बन्ध हमारे जातीय निर्माण से है, अवध, ब्रज आदि जनपदों के अलगाव टूटने से है, व्यापार की मण्डियाँ कायम होने से है और इस

प्रक्रिया में हिन्दू-मुसलमान दोनों शामिल थे।

शुक्लजी ने बाजारों के साथ खड़ी बोली के प्रसार का सम्बन्ध जोड़ा, यह उनकी सूझबूझ का बहुत बड़ा प्रमाण है। वैज्ञानिक इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि सामन्तवाद के पतनकाल में, पूँजीवाद के उत्थानकाल में, बाजारों के कायम होने के साथ जातियों का निर्माण भी होता है। दिल्ली, आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, पटना आदि शहर अकबर और जहाँगीर के समय यहाँ के प्रधान व्यापार-केन्द्र थे। वे उद्योगधंधों और संस्कृति के केन्द्र भी थे। इनकी बढ़ती के साथ खड़ीबोली बाजार की भाषा बनी, वह अपने सीमित क्षेत्र से बाहर आयी और पूरब के इलाकों में भी फैली। शुक्लजी ने ठीक लिखा है "अत धीरे-धीरे पूरब के शहरों में भी इन पच्छिमी व्यापारियों की प्रधानता हो चली। इस प्रकार बड़े शहरों के बाजार की व्यावहारिक भाषा भी खड़ी बोली हुई।"

शुक्लाजी ने खड़ी बोली के प्रसार का जो रहस्य यहाँ प्रकट किया है, वह भाषा-विज्ञान के अनेक विशेषज्ञों के लिये अब भी रहस्य बना हुआ है। अनेक विद्वानों की समझ में नहीं आया कि अवधी, भोजपुरी, मगही आदि से खड़ी बोली का सम्बन्ध क्या है। उनकी समझ मे यह नहीं आया कि बड़े शहरों के बाजार की "व्यावहारिक भाषा" खड़ी बोली हुई। वह कभी-कभी उसे नकली, अव्यावहारिक, पूरब पर पच्छिम की लादी हुई भाषा समझते हैं। वह अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि के स्वतन्त्र विकास-विभिन्न जातियों की भाषाओं के रूप म उनके विकास—का सपना देखते हैं। कुछ दूसरे विद्वान् अंग्रेजों के आने से पहले व्यापारी-सम्बन्धों के अस्तित्व और प्रसार को ही नजरदाज करते हैं, वे इस सवाल को न तो उठाते हैं और न इसका जवाब देते हैं कि अकबर और जहाँगीर के समय दिल्ली, आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस और पटना में व्यापार की मंडियाँ क्यो कायम हुईं, ये शहर क्यों एशिया के नगरों मे भारी व्यापार-केन्द्र बने, इनके बाजार में परस्पर व्यवहार की सामान्य भाषा क्या थी। हिन्दी-भाषी प्रदेश अब भी अनेक सूबों में बटा हुआ है। हिन्दी भाषियों को पिछड़ा हुआ और एक दूसरे से बटा हुआ रखने के लिये पूरब-पच्छिम

के झगड़े खड़े करके और भी विभाजन की योजनाएँ बनायी गई हैं। यह सब देखते हुए शुक्लजी की स्थापनाओं का महत्व अच्छी तरह समझ में आ सकता है। उनकी स्थापनाओं के आधार पर ही हम हिन्दी-भाषियों की जातीय एकता, उनके जातीय निर्माण और संगठन और इस काम में खड़ीबोली की ऐतिहासिक भूमिका समझ सकते हैं।

शुक्लजी के सामने खड़ीबोली के प्रसार के ऐतिहासिक कारण स्पष्ट थे, इसलिये वह ग्रियर्सन आदि के इस प्रचार से सहमत न हो सकते थे कि हिन्दी गद्य का विकास—यानी गद्य में खड़ीबोली के हिन्दी रूप का विकास—अंग्रेजों की कृपा का फल था। न वह कुछ अंग्रेज भाषा-वैज्ञानिकों और उनके हिन्दुस्तानी अनुयाइयों के इस प्रचार से सहमत हो सकते थे कि उर्दू से प्रचलित अरबी-फारसी के शब्द निकाल कर उनकी जगह संस्कृत के शब्द रखने से हिन्दी गद्य का विकास हुआ है। शुक्लजी ने दिखलाया कि खड़ी-बोली के प्रचलित रूप के आधार पर ही हिन्दी गद्य का विकास हुआ। यह साबित करने के लिये उन्होंने लल्लूलाल से पहले के हिन्दी गद्य के नमूने दिये और यह भी दिखला दिया कि वे नमूने लल्लूलाल के गद्य से ज्यादा साफ सुथरी हिन्दी की मिसाल थे।

हिन्द प्रदेश के रहने वालों की जातीय भाषा हिन्दी है। अंग्रेजों के आने से पहले हमारे जातीय निर्माण का सिलसिला काफी आगे बढ़ चुका था; उसी के साथ खड़ीबोली के प्रसार का काम भी काफी आगे बढ़ चुका था। वास्तव में अंग्रेजों ने अपनी भेद-नीति से हमारे जातीय निर्माण में काफी अड़ंगे लगाये और भाषा के मामले में दखल देकर हिन्दी-भाषी जाति को तोड़ने की काफी कोशिश की। शुक्लजी अपने इतिहास में लिखते हैं—"मुसलमानों के दिये हुए कृत्रिम रूप से स्वतन्त्र खड़ीबोली का स्वाभाविक देशी रूप भी देश के भिन्न-भिन्न भागों में पछाँह के व्यापारियों आदि के साथ-साथ फैल रहा था। उसके प्रचार और उर्दू-साहित्य के प्रचार से कोई सम्बन्ध नहीं। धीरे-धीरे यही खड़ीबोली व्यवहार की सामान्य शिष्ट भाषा हो गई। जिस समय अंगरेजी राज्य भारत में प्रतिष्ठित हुआ उस समय भारत में खड़ीबोली व्यवहार की शिष्ट भाषा हो चुकी थी।"

उर्दू के सवाल को हम आगे लेंगे। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि शुक्लजी के अनुसार अंग्रेजी राज्य के प्रतिष्ठित होने के समय खड़ीबोली व्यवहार की शिष्ट भाषा "हो चुकी थी।" जातीय भाषा के प्रसार के लिये हम अंग्रेजों के देनदार नहीं हैं। इस प्रसार का सम्बन्ध शुक्लजी ने बारबार व्यापारियों की कार्यवाही से जोड़ा है।

शुक्लजी ने रामप्रसाद निरंजनी के गद्य की मिसाल देकर कहा है कि "मुंशी सदासुख और लल्लूलाल से ६२ वर्ष पहले खड़ीबोली का गद्य अच्छे परिमार्जित रूप में पुस्तकें आदि लिखने में व्यवहृत होता था।" दौलतराम के पद्म पुराण का अनुवाद देखकर शुक्लजी ने फिर लिखा कि यह ग्रंथ जैन समाज के लिये रचा गया था जो "बराबर व्यापार से सम्बन्ध रखने वाला समाज रहा है।" इससे एक और सबूत मिला कि खड़ीबोली "अधिकांश शिष्ट जनता के बीच" अपने स्वाभाविक रूप में प्रचलित थी। यह सबूत इस दलील को काटता है कि हिंदी गद्य अंग्रेजों की कृपा से विकसित हुआ। शुक्लजी जोर देकर कहते हैं—"अतः यह कहने की गुंजाइश अब जरा भी नहीं रही कि खड़ीबोली गद्य की परम्परा अंग्रेजों की प्रेरणा से चली।" इंशा की रानी केतकी की कहानी अंग्रेजों के आने से पहले लिखी गई थी, "अतः यह कि अंग्रेजों की प्रेरणा से ही हिंदी खड़ीबोली गद्य का प्रादुर्भाव हुआ, ठीक नहीं है।" सदासुखलाल ने भी साफ सुथरी हिंदी में गद्य लिखा था। वह दिल्ली के रहने वाले थे, उर्दू के भी लेखक थे, इन बातों का प्रभाव उनके गद्य लिखने पर पड़ा। खड़ीबोली दिल्ली वालों के घर की चीज थी, लखनऊ वगैरह में तो वह फैली। लेकिन "मुंशीजी ने यह गद्य न तो किसी अंग्रेज अधिकारी की प्रेरणा से और न किसी दिए हुए नमूने पर लिखा।" उन्होंने उस भाषा में लिखा।" जो चारों ओर, "पूरबी प्रान्तों में भी" प्रचलित थी।

इस तरह शुक्लजी ने अंग्रेजों के इस प्रचार का तर्क-संगत खण्डन किया कि उन्होंने कलकत्ते में हिन्दी गद्य का पौधा लगाया था।

बोलचाल की भाषा का सूत्र पकड़े रहने से शुक्लजी इस भ्रम में नहीं पड़े कि हिन्दी-उर्दू दो स्वतन्त्र भाषाएँ हैं। उर्दू खड़ीबोली का ही एक रूप

है, यह मान्यता उनकी अनेक उक्तियों से प्रकट होती है । इंशा के सिलसिले में लिखा हैं: "खड़ीबोली उर्दू-कविता में पहले से बहुत कुछ मँज चुकी थी जिसने उर्दू वालों के सामने लिखते समय मुहावरे आदि बहुतायत से आया करते थे।" खड़ीबोली मँज चुकी थी, इसका मतलब यह है कि उसका टकसाली रूप बहुत कुछ निश्चित हो चुका था। उर्दू वालों के सामने मुहावरे आदि बहुतायत से आया करते थे, इसका मतलब यह है कि वे आमतौर से मुहावरेदार भाषा लिखा करते थे।

यहाँ खड़ीबोली के गद्य के विकास की एक और कड़ी पर ध्यान देना चाहिये जो शुक्लजी के समय स्पष्ट न थी। यह कड़ी दकनी हिन्दी की है। इंशा, सदासुख और लल्लूलाल ही नहीं, मीर गालिब और सौदा से भी बहुत पहले दक्खिन के लेखकों ने खड़ीबोली का गद्य विकसित किया था। इसमें ज्यादातर—और खासतौर से वली से पहले की रचनाओं में—फ़ारसी के प्रचलित शब्दों के साथ संस्कृत के प्रचलित शब्द भी मिलते हैं, बहिष्कार की नीति के बदले व्यवहार की भाषा का रूप बहुत कुछ इस दकनी गद्य से मालूम हो सकता है।

भाखा शब्द मुसलमान किस अर्थ में इस्तेमाल करते थे; यह बतलाते हुए शुक्लजी ने लिखा है: "भाखा से खास ब्रज भाषा का अभिप्राय उनका नहीं होता था, जैसे अरबी-फारसी मिली हिन्दी को 'उर्दू' कहते थे उसी प्रकार संस्कृत मिली हिन्दी को 'भाखा'।" अरबी-फारसी मिली हिन्दी उर्दू कहलाती थी, संस्कृत मिली हिन्दी भाखा। अन्तर शब्दों के चुनाव में था, न कि व्याकरण के मूल रूपों में। यहाँ भी शुक्लाजी की स्थापना से यह जाहिर होता है कि वह बुनियादी तौर से हिन्दी उर्दू को एक ही भाषा समझते थे।

बालमुकुन्द गुप्त की शैली की तारीफ करते हुए शुक्लजी ने लिखा है: "वे पहले उर्दू के अच्छे लेखक थे, इससे उनकी हिन्दी बहुत चलती हुई और फड़कती हुई होती थी।" इसका मतलब यह हुआ कि उर्दू अरबी-फारसी से लदी हुई भाषा ही नहीं है, उसमें बोलचाल की हिन्दी का रूप भी रचा हुआ है जिससे फायदा उठाकर बालमुकुन्द गुप्त ने हिन्दी को

उर्दू की परम्परा को आगे बढ़ाना चाहिये, मीर, सौदा, इकबाल की उस सरल उर्दू से, जो कभी कभी सरल हिन्दी से जरा भी अलग नहीं है, सरल हिन्दी ही है, सीखना चाहिये, उस रीति को आगे बढ़ाना चाहिये। साथ ही मध्यकाल के सन्तों, प्रेम मार्गी कवियों की शैली पर गौर करना चाहिये, उन्होंने फारसी से शब्द किस तरह लिये हैं, किस हिसाब से लिये हैं, बोल चाल से कितने शब्द लिये हैं, संस्कृत से कैसे शब्द लेते हैं, यह सब ध्यान में रखना चाहिये। चौथी यह कि वे अपना साहित्य नागरी अक्षरों में हिन्दी जानने वाली जनता तक पहुँचायें जिससे उन्हें पता लगे कि वह उसकी समझ में कितना आता है, वह उसे कितना पसन्द करती है, उसमें क्या सुधार चाहती है, वगैरह।

इन चार बातों पर अमल करने से उर्दू के लेखक खड़ी बोली के मिले जुले, एक ही साहित्यिक रूप को विकसित करने में मदद दे सकते हैं। ऐसे वे करेंगे, एक हद तक कर भी रहे हैं क्योंकि यह हमारे सामाजिक विकास ही की माँग है जिससे आँख नहीं चुराई जा सकती।

इसके साथ ही हिन्दी लेखकों के भी कुछ कर्तव्य हैं जिन पर ध्यान न देने से वह हिन्दी का अहित करेंगे। पहली बात यह कि उर्दू को कृत्रिम कहकर टाल देने के बदले उससे कुछ सीखने का दृष्टिकोण अपनाना ज्यादा अच्छा है। आज के हिन्दी लेखक भारतेन्दु, बालमुकुन्द गुप्त और प्रेमचंद से कुछ बढ़िया हिन्दी नहीं लिखते। अगर उन जैसे महान् लेखक भी उर्दू से कुछ सीख सकते थे तो हम क्यों नहीं सीख सकते? दूसरी बात यह कि हिन्दी के प्राचीन साहित्य की विरासत को अपनी चीज माननेवाले भी सूर, जायसी और तुलसी की परम्परा से दूर हटते जा रहे हैं। हम संस्कृत शब्दों को उस तरह भाषा में नहीं खपा पाते जिस तरह तुलसी और सूर ने या देव और मतिराम ने भी खपाया था। हम तत्सम रूप को पंडित समझते हैं, तद्भव रूप को अछूत। नतीजा यह है कि हम हिंदी की अपनी विशेषताएं भूलकर उसे संस्कृत के रास्ते ठेलना चाहते हैं। तीसरी बात यह कि संस्कृत से हमें भरसक ऐसे शब्द लेने या बनाने चाहिये जो हमारे उच्चारण के अनुकूल हों। अगर बोलने में कठिनाई हुई

तो संस्कृत शब्दों की जगह फारसी, अंग्रेजी, किसी भी भाषा के शब्द चल निकलेंगे, वे बोलने में कठिन शब्द रखे रहेंगे। और चौथी बात यह कि अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों का बहिष्कार न करके हमें उन्हें हिन्दी की सम्पत्ति समझ कर उन्हें काम में लाना चाहिये; इससे भाषा का रूप नहीं बिगड़ता वरन् भाषा में नयी शक्ति पैदा होती है।

देश के बँटवारे के बाद काफी लोगों ने पारिभाषिक शब्दों के नाम पर, सारे देश में समझे जाने लायक राष्ट्रभाषा गढ़ने के नाम पर हिन्दी का रूप काफी बिगाड़ा है लेकिन उनकी ये तमाम कोशिशें बेकार जायंगी क्योंकि हिन्दी वह भाषा है जो एक ओर संस्कृत, दूसरी ओर फारसी और तीसरी ओर अंग्रेजी, इन तीनों के मिले जुले दबाव को ठेलती हुई ऊपर उठी है। संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी का सहारा एक बात है, दबाव दूसरी बात है। दबाव बेकार होगा; भाषा अपने जातीय रूप के अनुसार ही फले-फूलेगी।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का उत्थानकाल हिन्दीभाषी जनता के जातीय और जनवादी साहित्य का भी उत्थान काल है। इसी युग में हिन्दी साहित्य को सामन्ती प्रभावों से मुक्त करके राष्ट्रीय स्वाधीनता, जातीय एकता और जनता की सेवा के नये रास्ते पर ले चलने की कोशिशें की गईं। सामन्ती प्रभाव एकाएक खत्म नहीं हो गये; खासकर कविता में वह काफी दिन तक जमे रहे। लेकिन गद्य में रूढ़िवाद का असर कम हुआ और जल्दी कम हुआ। गद्य का यह विकास आसानी से, बिना संघर्ष के नहीं हुआ; रूढ़िवादी विचारधारा गद्य का रूढ़िवादी रूप भी चाहती थी, प्रगतिशील विचारधारा गद्य के रूप को स्वाभाविक बोलचाल के ज्यादा नजदीक लाना चाहती थी। साहित्य की विषय-वस्तु ने उसके रूप पर असर डाला; रूप की तुलना में विषय-वस्तु ने अपनी नियामक भूमिका पूरी की। शुक्लजी ने इस नयी विषयवस्तु का समर्थन किया, उसके लोकप्रिय रूप का समर्थन किया।

हिन्दी गद्य लिखने वालों के सामने दो मुख्य समस्याएं थीं, एक तो यह कि ब्रज और अवधी के व्याकरण-रूपों से बचा कर उसका टकसाली

रूप कायम किया जाय, दूसरी यह कि उसे रूढ़िवादी अलंकारवाद से बचाकर उसे सहज और स्वाभाविक बनाया जाय। शुक्लजी ने दिखलाया है कि ब्रज, अवध आदि में खड़ी बोली का प्रसार तो हुआ लेकिन उसका एकसा ही रूप हर जगह न बोला जाता था। "काशी पूरब में है पर यहा के पंडित सैकड़ों वर्षों से 'होयगा' 'आवता है' 'इस करके आदि' बोलते चले आते हैं।" इससे पूरब में खड़ी बोली का सहज प्रसार साबित हुआ, साथ यह भी साबित हुआ कि यह प्रसार स्थानीय प्रभावों के कारण हर जगह एकसी टकसाली (स्टैंडर्ड) भाषा को लेकर न हुआ था। लल्लूलाल की भाषा में एक तरफ तो ब्रज के प्रयोग हैं, ब्रजभाषा के व्याकरण के कुछ रूप हैं, दूसरी तरफ अलंकारवाद का भी जोर है। एक तरफ सनुख जाय, सिर नाय, सोई, भई आदि जैसे प्रयोग हैं, दूसरी तरफ "भाषा की सजावट" के लिये "विरामों पर तुकबंदी" जहा-तहा अनुप्रास भी हैं, वाक्य बड़े-बड़े हैं जिनसे कि "लल्लू लालजी का काव्याभास गद्य भक्तो की कथावार्ता के काम का ही अधिकतर है, न नित्य-व्यवहार के अनुकूल है, न सबद्ध विचार-धारा के योग्य।" काव्याभास गद्य कह कर शुक्लजी ने लल्लू लाल की सारी कमजोरिया जाहिर कर दी हैं। यह दोष लल्लू लाल ही में नहीं, इ शा में भी था। वह भी होने लगी, रोने लगी, बरसने लगे, तरसने लगे के अनुप्रास बाँधा करते थे। इस तरह के चमत्कारवाद को दूर करके ही व्यवहार की भाषा का साहित्यिक रूप निखर सकता था। लल्लू लाल की भाषा में अलंकारवाद होते हुए भी मिठास थी, यह मानना होगा। ब्रजभाषा के व्याकरण-रूप लेना गलत था, लेकिन शब्दचयन ब्रजभाषा जैसा होने से उसमें मिठास भी है। इ शा के लिये तो शुक्लजी ने खुद ही लिखा है कि कुछ विचित्रताओं के होते हुए भी "इ शा ने जगह जगह बड़ी प्यारी घरेलू ठेठ भाषा का व्यवहार किया है।"

भारतेन्दु-युग के लेखकों ने आमतौर से जिस शैली का विरोध किया, उसके एक प्रतिनिधि उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन थे। इन के लेखों में "गद्द काव्य के पुराने ढग की झलक रगीन इबारत की चमक-दमक बहुत कुछ मिलती हैं। बहुत से वाक्यखडों की लड़ियों से गुथे हुए

उनके वाक्य अत्यंत लम्बे होते हैं—इतने लम्बे कि उनका अन्वय कठिन होता था। पद-विन्यास में तथा कहीं-कही वाक्य के बीच विराम स्थलों पर भी अनुप्रास देख इंशा और लल्लूलाल का स्मरण होता है। इस दृष्टि से देखें तो प्रेमघन में पुरानी परम्परा का निर्वाह अधिक दिखाई पड़ता है।" यहाँ बहुत संक्षेप में शुक्लजी ने रूढ़िवादी शैली के दोष बतला दिये हैं। नवा साहित्य यथार्थवाद की ओर बढ़ रहा था, इसलिए लम्बे वाक्य बीच-बीच में अनुप्रास और इबारत की चमक-दमक इस यथार्थवादी रुझान के विरुद्ध पड़ते थे। शुक्लजी ने आगे भी लिखा है कि पाठक कभी-कभी प्रेमघन के "एक एक डेढ़-डेढ़ कालम के लम्बे वाक्य में उलझा रह जाता था।"

इस चमत्कारवाद का संबंध संस्कृत की गद्य-शैली से भी था। शुक्लजी ने जिस निर्भीकता से संस्कृत के चमत्कारवादी साहित्य-शास्त्रियों का विरोध किया था, उसी निर्भीकता से उन्होंने संस्कृत गद्य के चमत्कारवादियों की सीमाएँ भी बतलाईं। ऐसे युग में और वह भी काशी में, जब देववाणी का हर लेखक हिन्दी साहित्यकारों से श्रेष्ठ और आलोचना से परे समझा जाता था, शुक्लजी ने बाण और दंडी की गद्य शैली के दोष दिखाकर साहस का ही काम किया। उन्होंने अपने इतिहास में गोविन्द नारायण मिश्र की रूढ़िवादी शैली का विवेचन करते हुए लिखा: "गद्य के सम्बन्ध में इनकी धारणा प्राचीनों के गद्य काव्य की हीं थी। लिखते समय बाण और दंडी इनके ध्यान में रहा करते थे। पर यह प्रसिद्ध बात है कि संस्कृत साहित्य में गद्य का वैसा विकास नहीं हुआ। बाण और दंडी का गद्य काव्य अलंकार की छटा दिखाने वाला गद्य था, विचारों को उत्तेजना देने वाला भाषा की शक्ति का प्रसार करने वाला गद्य नहीं।" शुक्लजी ने बाण और दंडी की शैली की सही आलोचना की है लेकिन संस्कृत में इस शैली से भिन्न और तरह का गद्य भी है, यह भी उन्हें लिखना चाहिये था। लेकिन उस दूसरी तरह के गद्य का असर गोविन्दनारायण मिश्र जैसे लेखकों पर न पड़ रहा था। सामन्ती प्रभावों के कारण वे संस्कृत के उस गद्य से

ये उथला, सतही, एकाङ्गी, "गाम्भीर्य-शून्य" समझते हैं। इसलिए हिन्दी शब्दसागर में थाह लेने जाकर इनके हाथ "मौर्ख्य" ही लग पाता है।

शुक्लजी ने भारतेन्दु के गद्य की दो शैलियाँ बतलाई हैं। पहली भावावेश की, दूसरी तथ्य-निरूपण की। पहली तरह की शैली में वाक्य छोटे होते हैं, "पदावली सरल बोलचाल की होती है" जिसमें फारसी-अरबी के प्रचलित शब्द भी आ जाते हैं। उनकी दूसरी शैली में कभी-कभी "संस्कृत पदावली का कुछ अधिक समावेश होता है।" इस दूसरी शैली की मिसाल देने के बाद शुक्लजी कहते हैं, "पर यह भारतेन्दु की असली भाषा नहीं है।" उन्होंने उनकी असली भाषा का रूप उस शैली में ही माना है जिसमें संस्कृत पदावली का अधिक समावेश नहीं है। वास्तव में इसी तरह की हिन्दी ने हरिश्चन्द्र को भारतेन्दु बनाया था।

भारतेन्दु ने भाषा का रूप काफी व्यवस्थित किया। उन्होंने सन्नद्ध वाक्य-रचना में कौशल दिखलाया, शब्दों के रूप भी प्राय एकसे रखे। उन्होंने भाषा को सदासुखलाल के "पण्डिताऊपन", लल्लूलालके "ब्रज-भाषापन" और सदल मिश्र के "पूरबीपन" से मुक्त किया। भारतेंदु ने हिंदी के उस टकसाली रूप का विकास किया जिसे हम आज अपनी जातीय भाषा समझते हैं। यह बात भारतेन्दु युग के सभी लेखकों के लिए नहीं कही जा सकती। बालकृष्ण भट्ट के गद्य में "पूरबी प्रयोग बराबर मिलते हैं।" प्रतापनारायण मिश्र "पूरबीपन की परवा न करके अपने बैसवारे की ग्राम्य कहावतें और शब्द भी कभी-कभी बेधड़क रख दिया करते थे।" भारतेन्दु में भी बनारस के कुछ खास प्रयोग मिलते हैं, स्थानीय प्रयोगों से उनका गद्य भी एकदम खाली नहीं है। लेकिन भारतेन्दु-युग आधुनिक हिन्दी गद्य के निर्माण का युग था। उसका महत्त्व भाषा को व्यवस्थित करने में उतना नहीं है जितना उसे बोलचाल के नज-दीक रखते हुए साहित्यिक रूप देने में। बालकृष्णभट्ट और प्रतापनारायण मिश्र के पूरबीपन पर हजारों शुद्ध हिन्दी लिखने वालों का टकसालीपन निछावर है। भारतेन्दु युग के महान् लेखकों का गद्य अवध और ब्रज की धरती के बहुत ही नजदीक है, धूल भरे हीरे की तरह यह गद्य स्थानीयता

के भीतर दमकता है। ये लेखक गद्य के लिए गद्य न लिख रहे थे, न भाषा सुधार के लिए भाषा सुधार रहे थे। भाषा उनके लिए एक साधन थी, साध्य नहीं। वह हिन्दी गद्य के रूप में सामाजिक उत्थान का ऐसा प्रवल शस्त्र गढ़ रहे थे जो बिखरे हुए हिन्दी भाषियों को एक करे और उन्हें स्वाधीन; शिक्षा और अपने जनवादी अधिकारों के लिये लड़ना सिखाये। यदि आज के बहुत से पंडितों की तरह वे हिन्दी को शब्दों से "समृद्ध" करने पर तुल जाते तो दस पाँच कोश वे भी बना डालते लेकिन वह साहित्य न रच पाते जो सदियों तक हिन्दी के विकास-पथ को आलोकित करता रहे।

भारतेन्दु ने भाषा को सँवारने, उसका रूप स्थिर करने में बहुत बड़ा काम किया, लेकिन "इससे भी यड़ा काम उन्होंने यह किया कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया।" यही उनका मुख्य काम था; और सब काम इसके मातहत थे। साहित्य को नया मार्ग दिखाने के कारण वह साहित्य के रूप—उसकी भाषा, शैली आदि—को भी निखार सके, उसे यथार्थवादी रुझान के अनुकूल स्वाभाविक और सरस बना सकें। लोगों में नयी शिक्षा का प्रचार हो रहा था, उनके "भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गये थे पर साहित्य पीछे ही पड़ा था।" उस युग के लेखकों ने इस फासले को दूर किया। साहित्य समाज के पीछे घिसटता हुआ नहीं चलता; वह जनता के आगे बढ़े हुए विचारों और भावों का प्रतिनिधि होता है। तभी वह जनता को संतठित करके, उसमें नया मनोबल जगाकर उसे नये कर्म-मार्ग पर बढ़ा सकता है। भारतेन्दु से पहले "भक्ति, शृङ्गार आदि की पुराने ढंग की कविताएँ ही होती चली आ रही थीं।" शृङ्गार का मतलव था, नायिका-भेद। वह चाल कभी की पुरानी पड़ गई थी। लेकिन भक्ति साहित्य, जिसे शुक्लजी ने वास्तविक जगत के इतना निकट बतलाया था, वह भी इस युग की आवश्यकताओं के लिए काफी न था। साहित्य युग की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर रचा जाना चाहिए; शाश्वत सत्य के नाम पर वह सामयिकता को तिरस्कार की निगाह से नही देख सकता। भारतेन्दु से पहले का हिंदी—खड़ी बोली—का साहित्य इस विचार से पुराना पड़ चुका था; "देशकाल के अनुकूल साहित्य निर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न

के साथ सम्पर्क हुआ।" इस तरह का सम्पर्क १६ वीं सदी के शुरु से ही "एंग्लो सैक्सन सभ्यता" एशिया के देशों से कायम कर रही थी और यह सम्पर्क "समस्त पूर्वी संसार को स्पंदित कर रहा था।" इस सम्पर्क में १८५७ के भारतीय स्वाधीनता-संग्राम से बाधा पड़ी, बाधा ही नहीं, लेखक के शब्दों में यह घटना "भविष्य में अंग्रेजों और भारतवासियों के पारस्परिक सम्बन्ध के लिए घातक सिद्ध हुई।" डलहौजी के सुर में सुर मिलाकर ये लेखक रेल, तार, डाक का गुणगान करते हैं, अंग्रेजों ने यह सब अपने हित के लिये किया और यहाँ के उद्योगधन्धों को तबाह किया, यह भूल जाते हैं। यूरोप के अनेक उपनिवेशवादियों में "ऐंग्लो-सैक्सन सभ्यता की संदेशवाहक ब्रिटिश जाति" इन्हें और भी प्रातःस्मरणीय मालूम होती है। इस दृष्टि से विश्वइतिहास में ब्रिटिश जाति का नाम अमर रहेगा" !!! ब्रिटिश जाति के साथ इन जैसे ब्रिटिश-भक्त आलोचकों का नाम भी अमर रहेगा!

ऐसे आलोचकों के विपरीत शुक्लजी ने भारतेन्दु युग के साहित्य का साम्राज्य-विरोधी पक्ष, उसका स्वाभाविक जन-जीवन से उत्पन्न होने वाला पक्ष उभार कर रखा है। उन्होंने दिखलाया है कि उस समय के लेखकों का जीवन "देश के सामान्य जीवन से विच्छिन्न न था।" उन पर अंग्रेजी शिक्षा का यह प्रभाव न पड़ा था कि "अपने देश का रूप-रंग उन्हें सुझाई ही न पड़ता।" वे सुधार करना चाहते थे, नया साहित्य रचना चाहते थे लेकिन "पश्चिम की एक एक बात के अभिनय को ही वे उन्नति का पर्य्याय नहीं समझते थे।" वे प्रगति इस तरह करना चाहते थे कि "नवीन प्राचीन का ही प्रवर्द्धित रूप प्रतीत हो।" इसीलिये "जो मौलिकता इन लेखकों में थी वह द्वितीय उत्थान के लेखकों में न दिखाई पड़ी।" यह मौलिकता क्या उधार ली हुई थी? बाद के लेखकों के समय में तो अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार और भी हुआ लेकिन वह जिंदादिली और वह मौलिकता फिर क्यों न दिखाई दी? यदि वह अंग्रेजी शिक्षा की देन होती तो घटने के बदले बराबर बढ़ती जाती, उसका एक युगव्यापी गुण के रूप में अभाव न दिखाई देता। वे लेखक जनजीवन के हर पहलू पर लिखते थे, स्त्री शिक्षा और देश की पराधीनता पर भी लिखते थे, और

होली, दिवाली, दशहरे पर भी लिखते थे जिस पर "जनता के जीवन का रंग पूरा पूरा रहता था।" यह जनता के जीवन का रंग विलायत से बनकर न आया था; उसका आधार ऐंग्लो सैक्सन सभ्यता या ब्रिटिश-जाति से संपर्क न था। शुक्लजी ने अनेक बार भारतेन्दु-युग की जिंदादिली और मौलिकता से बाद के साहित्य की तुलना की है। उन्हें हर बार कहना पड़ा है, "यह सामाजिक सजीवता भी द्वितीय उत्थान के लेखकों में वैसी न रही।" इसका कारण है। सामूहिक रूप से हिन्दी लेखकों का जनजीवन से वह संपर्क न रह गया जो भारतेन्दु-युग के लेखकों का था। प्रेमचन्द, निराला, वृन्दावनलाल वर्मा जैसे लेखकों ने न केवल भारतेन्दु युग की जनवादी परम्परा को कायम रखा, वरन् वे उसे आगे की मंजिलों तक भी ले गये, साहित्य में उन्होंने वह खूबियां पैदा कीं जो भारतेन्दु-युग में कम थीं या नहीं थीं। लेकिन इनके युग में जिन्दादिली या मौलिकता युग का गुण न था; जन-जीवन की पहचान और जनता से प्रेम युग के अधिकांश लेखकों की विशेषता नहीं रही। बीसवीं सदी में हिन्दी साहित्य पर पश्चिम की पूँजीवादी विचारधारा का असर गहरा हुआ, खुद भारतीय पूँजीवाद का असर उस पर पड़ना शुरू हुआ। साहित्य-संसार का संघर्ष रीतिकालीन परम्परा और राष्ट्रीय विचारधारा का ही संघर्ष न रहा; वह सामन्ती, साम्राज्यवादी और पूंजीवादी विचारधारा तथा जनवादी विचारधारा का संघर्ष भी बना। बहुत से लेखक सामन्ती और साम्राज्यवादी असर से एक हद तक बचे रहे लेकिन पूंजीवादी विचारधारा के असर से न बच सके। यह असर इन बातों में दिखाई देता था : जन जीवन की समस्याएं छोड़कर रहस्यवाद, पुरातन-प्रेम, वेदना का संसार बसाने की प्रवृत्तियां, साहित्य के लोकप्रिय रूप, कला के जनसुलभ सौंदर्य, भाषा के सरल और मुहावरेदार रूप को छोड़कर दुरूहता, कठिन शब्द-योजना और थोड़े से व्यक्तियों को ध्यान में रखकर साहित्य रचने की प्रवृत्तियां। जब इस तरह की प्रवृत्तियां काफी व्यापक प्रवृत्तियां बन जायंगी, तब जिदादिली कहां से आयेगी? भारतेन्दुयुग और बाद के साहित्य में जो अन्तर दिखाई देता है, उसका यह एक बहुत बड़ा कारण है।

नयी हिन्दी कविता और छायावाद

हिन्दी के आलोचकों को शुक्लजी से सबसे बड़ी शिकायत यह है कि वह छायावाद के विरोधी थे, शुरू में यह विरोध ज्यादा कट्टर था, लेकिन बाद में उन्होंने अपनी भूल बहुत कुछ सुधार ली।

शुक्लजी ने अपनी मूल स्थापनाओं में कोई परिवर्तन नहीं किया। उनकी पहली स्थापना यह थी कि अगोचर और परोक्ष से प्रेम नहीं हो सकता, इसलिये वह काव्य का विषय नहीं है। दूसरी स्थापना यह थी कि केवल कला या शैली सँवारने के लिये लाक्षणिकता का बहुत ज्यादा प्रयोग काव्य के लिये हानिकर है और उसका प्रयोगमात्र किसी को रहस्यवादी बनाने के लिये काफी नहीं है।

शुक्लजी ने छायावाद का विवेचन किस तरह किया है, यह देखने के लिये यह जानना जरूरी है कि उससे पहले की कविता के बारे में उनकी धारणा क्या थी। उन्होंने भारतेन्दु युग की कविता की नयी विषयवस्तु

का स्वागत किया । देशभक्ति को इस कविता का मूल स्वर बतलाया। लेकिन भारतेन्दु-युग में जैसा निबन्धों और नाटकों का विकास हुआ, वैसा कविता का नहीं । देशभक्ति के साथ राजभक्ति का स्वर भी मिला हुआ था। उसके रूप, शैली आदि में भी सरसता की कमी थी । शुक्लजी उसकी ये सब सीमाएं जानते थे। इसलिये उन्होंने उस युग के निबन्धों की जिस तरह तारीफ की है, उस तरह कविता की नहीं । अपने इतिहास में उन्होंने लिखा है कि "काव्य को भी देश की बदलती हुई स्थिति और मनोवृत्ति के मेल में लाने के लिये भारतेन्दु मण्डल ने कुछ प्रयत्न किया।" यह प्रयत्न सीमित था; "वह जनता के हृदय को सामाजिक और राजनीतिक स्थिति की ओर "थोड़ा प्रवृत्त करके रह गया ।" इस प्रयत्न की सीमाएं ये थीं : उसमें न तो संकल्प की दृढ़ता थी और न न्याय के आग्रह का जोश था, न उलटफेर की प्रबल कामना का वेग । स्वदेश-प्रेम व्यंजित करने वाला वह स्वर अवसाद और खिन्नता का स्वर था, आवेश और उत्साह का नहीं। उसमें अतीत के गौरव का स्मरण और वर्तमान ह्रास का वेदनापूर्ण अनुभव ही स्पष्ट था ।" इसलिये देश-प्रेम "काव्य भूमि पर पूर्णरूप से प्रतिष्ठित न हो सका।"

भारतेन्दु युग के काव्य की ये सीमाएं बहुत कुछ ठीक हैं । इनका एक कारण यह है कि कविता में जिस तरह रीतिकालीन परम्परा जमी हुई थी, उस तरह गद्य में नहीं । इसलिये भारतेन्दु युग की क्रान्तिकारी चेतना सबसे अच्छी तरह निबन्धों में प्रकट हुई है । लेकिन भारतेन्दु युग की कविता न तो नायिकाभेद तक सीमित है, न देशभक्ति तक । उसमें मानव-जीवन के और बहुत से पहलुओं का भी समावेश है । इसके सिवा उस युग में बहुत सी व्यंग्यपूर्ण रचनाएं भी की गईं जिनमें उस युग की विशेषता, उनकी जिन्दादिली, पूरी तरह झलकती है । बहुत सी कविताएं जनगीतों के आधार पर और उन्हीं की रीति पर भी लिखी गईं; इससे साहित्य के दूसरे अङ्गों की तरह कविता भी जनसंस्कृति के बहुत नजदीक आगई। फिर भी शुक्लजी ने जिस मांग की ओर संकेत किया है—यानी कविता में संकल्प की दृढ़ता हो, अवसाद और खिन्नता

नये राजनीतिक आन्दोलन की दो विशेषताओं पर शुक्ल जी ने जोर दिया है। एक तो यह कि "अब जो आन्दोलन चले वे सामान्य जनसमुदाय को भी साथ लेकर चले।" दूसरी यह—और शुक्लजी के शब्दों में "सबसे बड़ी बात यह हुई कि"—"ये आन्दोलन संसार के और भागों में चलने वाले आंदोलनों के मेल में लाये गये, जिससे ये क्षोभ की एक सार्वभौम धारा की शाखाओं से प्रतीत हुए।" शुक्लजी देश के स्वाधीनता-आन्दोलन का अन्तर-राष्ट्रीय रूप समझते थे, उसे दूसरे देशों के स्वाधीनता-आन्दोलन का साथी समझते थे, उन आन्दोलनों से अपने आन्दोलन का मेल में आना यह "बड़ी बात" समझते थे, यह सब स्वीकार करना होगा और यह भी मानना होगा कि इस तरह का विश्लेषण हिन्दी के और आलोचकों ने—कम से कम शुक्लजी के समकालीन आलोचकों ने—नहीं किया।

जन-समुदाय को लेकर चलने से आन्दोलनों में गहराई आती है। "इससे उनके भीतर अधिक आवेश और बल का संचार हुआ।" आवेश और बल का स्रोत है जनता। उसे छोड़कर चलने वाले आन्दोलन थोड़े से शिक्षित बड़े आदमियों के आन्दोलन होते हैं और उनमें न आवेश होता है, न बल।

हिन्दुस्तान का नया स्वाधीनता-आन्दोलन रूस की समाजवादी क्रांति के बाद चला था। इस क्रांति ने साम्राज्यवाद का विश्व-प्रभुत्व तोड़ दिया था, अपने यहाँ सामन्ती और पूंजीवादी शोषण मिटा दिया था। इसलिये हमारे यहाँ के स्वाधीनता-आन्दोलन पर समाज-वादी विचारधारा की भी छाप पड़ी। योरप में "लोक की घोर आर्थिक विषमता" से जो असंतोष पैदा हुआ, उसके बारे में शुक्लजी ने लिखा है दूसरे देशों का धन खींचने के लिये योरप में महायन्त्र-प्रवर्तन का जो क्रम चला उससे पूंजी लगाने वाले थोड़े से लोगों के पास तो अपार धनराशि इकट्ठी होने लगी पर अधिकांश श्रमजीवी जनता के लिये भोजन-वस्त्र मिलना भी कठिन होगया।" इस एक वाक्य में शुक्लजी ने यूरोप के पूंजीवाद का बहुत अच्छा विश्लेषण किया है। एक ओर तो अपार धनराशि का इकट्ठा होना, दूसरी ओर श्रमजीवी जनता के लिए भोजन-वस्त्र पाने में...

भी कठिनाई—यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

इस पूंजीवाद की दो प्रतिक्रियाएं हुईं। "एक ओर तो योरप में मशीनों की सभ्यता के विरुद्ध टॉल्स्टॉय की धर्मबुद्धि जगाने वाली वाणी सुनाई पड़ी जिसका भारतीय अनुवाद गांधीजी ने किया।" हम पहले देख चुके हैं कि शुक्लजी तोल्स्तोयपन्थ को व्यक्तिगत साधना मानते थे, उसे मनुष्य के सामूहिक प्रयत्नों के विरुद्ध समझते थे। यहाँ उन्होंने गांधीवाद का सम्बन्ध बहुत साफ साफ तोल्स्तोयमत के साथ जोड़ दिया है। दूसरी प्रतिक्रिया यह हुई कि धर्मबुद्धि जगाने के बदले जनता ने क्रांतिकारी संघर्ष का रास्ता अपनाया। "दूसरी ओर इस घोर आर्थिक विषमता की प्रतिक्रिया के रूप में साम्यवाद और समाजवाद नामक सिद्धांत चले जिन्होंने रूस में अत्यन्त उग्र रूप धारण करके भारी उलटफेर कर दिया।"

यहां शुक्लजी ने रूस में होने वाले उलटफेर का वैज्ञानिक कारण बतलाया है। उस उलटफेर का कारण घोर आर्थिक विषमता थी, वह उलटफेर उस घोर आर्थिक विषमता की प्रतिक्रिया थी। उसका कारण ईर्ष्याद्वेष का भड़काया जाना न था।

वर्तमान समय में किसी जाति या संस्कृति का दुनिया से एकदम अलग रहना असंभव होगया है। जातियाँ एक दूसरे के सम्पर्क में आती हैं, एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। इससे उनकी जातीयता नष्ट नहीं होती वरन् उसे विकसित होने का और मौका मिलता है। शुक्लजी ने लिखा है: "अब संसार के प्रायः सारे सभ्य भाग एक दूसरे के लिये खुले हुए हैं। इससे एक भूखण्ड में उठी हवाएँ दूसरे भूखण्ड में शिक्षित वर्गों तक तो अवश्य ही पहुँच जाती हैं। यदि उनका सामंजस्य दूसरे भूखण्ड की परिस्थिति के साथ हो जाता है तो उस परिस्थिति के अनुरूप शक्तिशाली आन्दोलन चल पड़ते हैं। इस नियम के अनुसार शोषक साम्राज्यवाद के विरुद्ध राज-नीतिक आन्दोलन के अतिरिक्त यहाँ भी किसान आन्दोलन, मजदूर-आन्दोलन, अछूत आन्दोलन इत्यादि कई आन्दोलन एक विराट परिवर्तनवाद के नाना व्यावहारिक अङ्गों के रूप में चले।" भारत के सामाजिक आन्दोलन यहीं की

परिस्थितियों की उपज थे, फिर भी दूसरे देशों के आन्दोलनों का प्रभाव उन पर पड़ा, इस प्रभाव से वे सशक्त हुए। इस तरह का प्रभाव अहितकर नहीं, हितकर हुआ। शुक्लजी ने जिस नियम की ओर सकेत किया है, वह अन्तर-राष्ट्रीयतावाद का नियम है। साम्राज्यवादियों के विश्ववाद (कॉस्मोपॉलिट-निज्म) से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। विश्ववाद देशों और जातिया के परस्पर आदान-प्रदान का सिद्धात नहीं है, वह एक जाति की स्वाधीनता और सस्कृति कुचल कर उसे साम्राज्यवादी प्रभाव-क्षेत्र में लाने का सिद्धात है। वह किसान-आन्दोलन या मजदूर-आन्दोलन जैसी चीजों को बढावा देना दूर, उन्हें अपना जानी दुश्मन समझता है।

शुक्लजी ने भारत के किसान-मजदूर-आन्दोलनों का उल्लेख किया, नयी हिन्दी कविता में उनके प्रभाव का उल्लेख किया। लेकिन उस समय इन आन्दोलनों की शुरुआत हुई थी। हिन्दीभाषी प्रदेश में अक्सर इनके अगुआ कांग्रेसी नेता ही होते थे। उस समय के अनेक कवियों ने ताण्डव, प्रलय, ध्वस आदि को लेकर शब्दो का बवडर खड़ा किया लेकिन उनकी कविता में गहराई न थी। शुक्लजी के सामने क्रातिकारी कवियों के रूप में बहुधा दिनकर, नवीन आदि आते थे जो उस समय काफी हुङ्कार-टङ्कार करने के बाद अब शरीफ दुनियादारों की तरह अपने धन्धे से लगे हुए हैं। इस-लिये कोई आश्चर्य नहीं यदि इनके बारे में शुक्लजी ने लिखा "'क्राति' के नाम से परिवर्तन की प्रबल कामना हमारे हिन्दी काव्य-क्षेत्र में पूरी पदा-वली के साथ व्यक्त की गई।" उन्होंने परिवर्तन ही परिवर्तन की पुकार के वास्तविक होने, उसके हृदय की पुकार होने मे संदेह प्रकट किया। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि शुक्लजी क्राति-विरोधी थे जैसे हुङ्कार-टङ्कारवाद से यह सिद्ध नहीं होता कि उसकेकवि क्रातिकारी थे।

यहाँ पर भारतीय समाज के वर्ग-सबधों पर शुक्लजी की मान्यताए विचारणीय हैं। कुछ लोग इन मान्यताओं को प्रगतिविरोधी मानते हैं। उनका हवाला देकर वे शुक्लजी के विचारों में असगतियों पर जोर देना आवश्यक समझते हैं। अ गरेजी राज, व्यापारी, जमींदार और किसान वर्गों के बारे में शुक्ल जी का कहना है "राजकर्मचारियों का इतना बड़ा चक्र

ग्रामवासियों के सिर पर ही चला करता है, व्यापारियों का वर्ग उससे प्रायः बचा रहता है। भूमि ही यहाँ सरकारी आय का प्रधान उद्गम बना दी गई है। व्यापार श्रेणियों को यह सुभीता विदेशी व्यापार को फलता-फूलता रखने के लिये दिया गया था, जिससे उनकी दशा उन्नत होती आई और भूमि से सम्बन्ध रखने वाले सब वर्गों की—क्या जमींदार, क्या किसान, क्या मजदूर—गिरती गई।"

यहाँ शुक्लजी ने राजकर्मचारियों के विशाल चक्र की बात कही है जो गाँववालों के सिर पर चला करता है। इस चक्र से उन्होंने गाँववालों को तवाह होते कहा है। वह इस चक्र के विरुद्ध हैं, उससे गाँववालों की मुक्ति चाहते हैं; इसमा अर्थ यह है कि उनका दृष्टिकोण सबसे पहले साम्राज्य-विरोधी हैं। उसके प्रगति-विरोधी होने का यहाँ सवाल तहीं उठता।

इस चक्र के सहायक कौन हैं ? सहावकों में वे व्यापारी हैं जिन्हें अंगरेजों से सुविधाएं मिली हुई हैं, जिनकी पूंजी विदेशी राज के सहारे फलती फूलती है। इस तरह का वर्ग—अंगरेजो की दलाली पर जीने वाले व्यापारी वर्ग यहाँ रहा है—यह कौन नहीं जानता ? शुक्लजी ने इसी वर्ग को विदेशी चक्र के नीचे प्रायः बचते हुए और फलते-फूलते हुए बतलाया है। यह वर्ग साम्राज्य-विरोधी मोर्चे में नहीं आता। इसके साथ यह और कहना चाहिए कि भारत में व्यापारियों और उद्योगपतियों का एक और दल रहा है जिसे साम्राज्यवादियों से सुविधाएं नहीं मिलती रहीं, जो साम्राज्यवाद का दबाब ज्यादा सहता रहा है और इसलिए जिसे देश की आजादी से कमोवेश दिलचस्पी रही है।

लेकिन साम्राज्यवाद का एक सहारा यहाँ का सामंतवाद भी रहा है। शुक्लजी ने जमींदारों को किसानों और मजदूरों के साथ रख दिया है। इससे क्या उनका जमींदार-प्रेम नहीं प्रकट होता ? कुछ मित्रों ने शुक्लजी के वाक्यों से यह नतीजा निकाला है कि इसमें उनका जमींदार-प्रेम प्रकट होता है।

शुक्लजी ने बड़े सामन्तों और छोटे या साधारण जमींदारों में भेद किया है। जिन जमींदारों को उन्होंने राजकर्मचारियों के चक्र और मुनाफा-

खोरों के जाल से तबाह होते देखा है, वे बहुत ही साधारण ढंग के जमींदार हैं। खासतौर से अवध के गांवों में दो-दो पाई और डेढ़-डेढ़ पैसे के हिस्सेदार इन जमींदारों की बहुत बड़ी तादाद है। इनकी स्थिति खाते-पीते किसानों की सी थी या कभी-कभी उससे भी गिरी हुई थी। शुक्लजी ने लिखा है "नगर के मजदूर तक पान-बीड़ी के साथ सिनेमा देखते हैं, गाँव के जमींदार और किसान कष्ट से किसी प्रकार दिन काटते हैं।" शुक्लजी ने यह सच लिखा है या झूठ? गाँवों में दरअसल ऐसे "जमींदार" हैं या उनके प्रति सहानुभूति पैदा करने के लिए उन्होंने ऐसा लिख दिया है? शुक्लजी ने बिल्कुल ठीक लिखा है। जो लोग इलाहाबाद के बंगलों से बाहर निकलकर अवध के गाँवों में घूमे होंगे, उन्हें हकीकत का पता होगा। मैं ऐसे काफी "जमींदारों" को जानता हूँ जिनका गुजारा खेती से न चल पाता था (यह अब की बात नहीं, आज से तीस साल पहले की है) और जिन्हें मजबूर होकर शहर में किसी की चपरासगीरी करनी पड़ी या छोटी मोटी नौकरियों के लिये घरबार छोड़ना पड़ा।

इसलिये जमींदार शब्द से ही चौंककर शुक्लजी पर खफा होने की जरूरत नहीं। जमींदारों में वर्गभेद करते हुए उन्होंने लिखा है "जमींदारों के अन्तर्गत हमें ९८ प्रतिशत साधारण जमींदारों को लेना चाहिये, २ प्रतिशत बड़े-बड़े तअल्लुकेदारों को नहीं। किसान और जमींदार एक ओर तो सरकार की भूमि-कर-सम्बन्धी नीति से पिसते चले आ रहे हैं, दूसरी ओर उन्हें भूखों मारने वाले नगरों के व्यापारी हैं जो इतने घोर श्रम से पैदा की हुई भूमि की उपज का भाव अपने लाभ की दृष्टि से घटाते-बढ़ाते रहते हैं।

बीसवीं सदी में, और खासतौर से पहले महायुद्ध के बाद, महाजनों और मुनाफाखोरों ने गाँवों पर धावा बोला था। भारत में जमींदारी प्रथा की एक यह विशेषता हो गयी कि जमींदार अपनी जमीन से गैर-हाजिर रहे। गैरहाजिर जमींदारों की तादाद बराबर बढ़ती गई थी। रजनी पामदत्त ने अपनी पुस्तक "आज का भारत" में खेती के सङ्कट का विवेचन करते हुए बतलाया है कि उद्योग-धन्धों में पूंजी लगाने की सम्भावनाएँ न होने पर बड़े-छोटे महाजन जमीन में पूंजी लगाते थे।

इसका नतीजा यह हुआ कि जमीन पर काम करने वाले जमींदारों की तादाद कम होती गई और गैरहाजिर महाजन-जमींदारों की तादाद बढ़ती गई। भारतीय समाज का हर विद्यार्थी इस प्रक्रिया को समझता है। शुक्लजी ने जो साधारण जमींदारो को व्यापारियों और अँगरेजी शासकों से तबाह होते दिखलाया है—और इन तवाह होने वालों से मुट्ठी भर ताल्लुकदारों को अलग किया है—वह वस्तुस्थिति का सही वर्णन है। इससे उनकी यही इच्छा साबित होती है कि साम्राज्यवाद से पीड़ित सभी वर्ग उसका विरोध करें, न कि यह कि साम्राज्यवाद को यहाँ कायम रहने दिया जाय। उपनिवेशों और पराधीन देशों में जमींदार-वर्ग का एक भाग साम्राज्य-विरोधी संग्राम में हिस्सा ले सकता है, यह चीन के स्वाधीनता-संग्राम से सिद्ध होता है। जिस समय चीनी जनता जापान के खिलाफ लड़ रही थी, उस समय माओ जे दुंग ने जो संयुक्त मोर्चा बनाया था, उसमें बहुत से जमींदार भी शामिल थे। इसलिये शुक्लजी ने साधारण जमींदारो के बारे में जो कुछ कहा है उससे यह साबित नहीं होता कि वे सामन्तवर्ग के समर्थक थे।

शुरू के अध्याय में हमने देखा है कि शुक्लजी का दार्शनिक दृष्टिकोण मूलतः वस्तुवादी है लेकिन संगत रूप से वस्तुवादी नहीं है, उसमें असंगतियाँ भी हैं। यही बात उनके साम्राज्य-विरोधी दृष्टिकोण के बारे में भी सही है। वह साम्राज्यवाद का विरोध करना चाहते थे; उसके लुटेरे रूप को समझते थे, यह सही है। लेकिन इस सिलसिले में अलग-अलग वर्गों की भूमिका उनके सामने स्पष्ट न थी। उनके सामने यह स्पष्ट न था कि साम्राज्यवादी जहाँ एक ओर यहाँ के कुछ पूंजीपतियों को सुविधाएं देते हैं, वहाँ सबसे ज्यादा भरोसा यहाँ के बड़े-बड़े सामन्तों का करते हैं, इनकी मदद से हिन्दू-मुसलमानों में फूट डालते हैं, अपने सबसे बड़े शत्रु किसान-मजदूर आन्दोलन को भरसक दबाते हैं, अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में अपने विरोधी सोवियत संघ के खिलाफ झूठा प्रचार करते हैं। ये बातें स्पष्ट न होने से शुक्लजी सोवियत संघ के खिलाफ झूठे प्रचार का खुद शिकार हुए, हिन्दू-मुस्लिम एकता का सुसंगत समर्थन करने के बदले वह

णिकता, वक्रता और चित्रमयी भावना जरूरी है लेकिन किस लिये ? रस-सचार की गति को तीव्र करने के लिये, केवल चमत्कार-प्रदर्शन के लिये नहीं। शुक्लजी रीतिकालीन चमत्कारवाद के प्रेमी नहीं, वह द्विवेदी जी के तथ्यवाद के हिमायती नहीं, वह छायावादियों की अतिशय लाक्षणिकता के भी समर्थक नहीं। उनका दृष्टिकोण इन सबकी अपेक्षा ज्यादा सतुलित है क्योंकि उनके कलात्मक विवेचन का आधार वाल्मीकि, भवभूति और तुलसी की कविता है।

"भारत-भारती" और "सरस्वती" में प्रकाशित अधिकाश कविताओं के बारे में उन्होने फिर लिखा है "ये रचनाए काव्यप्रेमियों को कुछ गद्यवत्, रूखी और इतिवृत्तात्मक लगती थीं।" यह रुझान छायावाद के प्रसार के समय काफी कमजोर पड़ गया था। उसके बदले एक दूसरा रुझान आया जो अतिलाक्षिणकता पर जोर देता था। शुक्लजी चाहते थे कि साहित्य मे रोमाटिक कविता या स्वच्छन्दतावाद का प्रसार हो लेकिन यह धारा स्वाभाविक हो, विषयवस्तु में रहस्यवाद और रूप में अटपटापन लिये हुए न हो। दूसरे उत्थान की कविता का विवेचन करते हुए उन्होंने "नैसर्गिक स्वच्छदता" की माग की है, अग्रेजी रोमाटिक कविता ने साहित्य म जो पहले-पहल परिवर्तन किये, उनके "मूल प्राकृतिक आधार" का उल्लेख किया है। वह सच्ची रोमाटिक कविता के लिये लोकगीतों को आधार बनाना जरूरी समझते थे। उन्होंने स्कॉटलैंड के कवि बर्न्स की बड़ी प्रशसा की है जिसने लोकगीतों के आधार पर ऐसी रचनाए कीं जो समाज में खूब पसद की गई। अग्रेज कवि कूपर ने कविता को रूढियो से मुक्त किया लेकिन "स्वच्छद हो कर जनता के हृदय मे सचरण करने की शक्ति वह कहा से प्राप्त करे, यह स्काटलेंड के एक किसानी झोपड़ी म रहने वाले कवि बर्न्स (Burns) ने ही दिखाया था।" जो आलोचक बर्न्स की कविता पर मुग्ध हो, वह रोमाटिक धारा का विरोधी कैसे हो सकता है ? लेकिन बर्न्स उन रोमाटिक कवियों में न था जो समाज से अलग कल्पना के शीशमहल मे कैद रहते हैं। वह एक जनवादी कवि था, उसकी रचनाए जनता के हृदय मे सचरण करती थीं।

और यह शक्ति उसे जनता से ही मिली थी। सच्ची रोमांटिक धारा जन-जीवन के कितने निकट होती है, इस बारे में शुक्लजी बर्न्स की मिसाल देते हुए कहते हैं, "उसने अपने देश के परम्परागत प्रचलित गीतों की मार्मिकता परख कर देश भाषा में रचनाएं कीं, जिन्होंने वहां के सारे जन-समाज के हृदय में अपना घर कर लिया।" हिन्दी के छायावादी कवि बर्न्स से बहुत कम परिचित रहे हैं। कुछ अपवाद छोड़ कर नयी हिन्दी कविता लोकगीतों के समृद्ध भंडार से अपने को दूर ही रखती आयी है।

शुक्लजी ने श्रीधर पाठक को स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्तक कहा है। श्री रामनरेश त्रिपाठी को उनका अनुवर्ती बतलाया है, इसी तरह मुकुटधर पांडेय को भी "नूतन, स्वच्छंद मार्ग" पर चलने वाला कवि कहा है। "पल्लव" की "उच्छ्वास", "आँसू", "परिवर्तन" और "बादल" आदि रचनाओं का हवाला देकर शुक्लजी कहते है, "यदि 'छायावाद' के नाम से एक 'वाद न चल गया होता तो पंत जी स्वच्छंदता के शुद्ध स्वाभाविक मार्ग पर ही चलते।" शुक्लजी जिस स्वच्छंदतावाद के पक्ष में थे, वह काफी व्यापक धारा थी। वह अपने में "आँसू" और "उच्छ्वास" जैसी रचनाओं को भी समो लेने में आगा पीछा न करती थी। तब शुक्लजी विरोध किस बात का करते थे? वह विरोध करते थे रहस्यवाद का, शैली की अति लाक्षणिकता का। आज हम छायावाद को इन दो विशेषताओं के दायरे बन्द नहीं कर देते, उसके ऐतिहासिक विकास और उसकी अन्य विशेषताओं पर भी ध्यान देते हैं। लेकिन शुक्ल जी के समय में छायावाद एक आन्दोलन था; उसमें प्रसाद-निराला-पंत ही न थे, और भी पचीसों कवि थे, जिनके नाम बहुत कुछ भुलाये जा चुके हैं। इस आन्दोलन की वे दोनों विशेषताएं लोगों के सामने उभर कर आई थीं जिन पर शुक्लजी ने अपनी निगाह जमाई थी। इसके सिवा खुद छायावादी कवि अपना बड़प्पन रहस्यवादी होने में समझते थे। प्रसादजी अपने आनन्दवाद और रहस्यवाद को एक ही चीज कहते थे। निराला जी का अद्वैतवाद और उसकी विरोधी धाराएं—मायावाद का खंडन आदि—सब रहस्यवाद कहलाता था। पंत जी दर्शन में सबसे कच्चे लेकिन छायावाद

की कमजोरियों के सबसे अच्छे प्रतिनिधि रहे हैं।

शुक्लजी ने छायावाद को सीमित अर्थ में लिया है। यह सही नहीं है। किसी आन्दोलन के बारे में उसके नेता या आलोचक क्या कहते हैं, इसीसे उसकी विशेषताएं नहीं परखी जा सकती। छायावाद के नेता कुछ भी कहते रहे हों, उसकी जो भी व्याख्याएं की जाती रही हों, महत्व की बात यह है कि छायावादी कवि लिखते क्या हैं, उनके साहित्य की मूल पूँजी क्या है, उसे उन्होंने किस रूप में जनता के सामने रखा है, इत्यादि। शुक्लजी ने इस तरह छायावाद का ऐतिहासिक विवेचन नहीं किया लेकिन उसकी जिन विशेषताओं पर उन्होंने आक्रमण किया है, वे विशेषताएं कल्पित नहीं वास्तविक थीं, यह मानना होगा और उनका यह आक्रमण सही था, यह भी मान लेने से ही कल्याण होगा।

शुक्लजी ने नयी कविता के लिये जो सबसे घातक विचारधारा समझी है, वह रहस्यवाद की है। "रहस्यात्मक कविताओं का कलरव" सुनकर श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी "कुछ गीत रहस्यवादियों के स्वर में" गाए। उनके "साकेत" में "नई रंगत की वेदना" उसी प्रभाव के कारण है। रवीन्द्रनाथ की कविताओं में "अधिकतर पाश्चात्य ढाँचे का रहस्यवाद" था। इसका प्रभाव हिन्दी कवियों पर भी पड़ा और जिस रास्ते पर वे चले, "वह अपना क्रमश बनाया हुआ रास्ता नहीं था।" रहस्यवाद से काव्य की विषयवस्तु सकुचित हुई। "असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति अत्यत चित्रमयी भाषा में अनेक प्रकार के प्रेमोद्गारों तक ही काव्य की गति विधि प्राय बँध गई।" रहस्यवादी कविता का प्रचलित भाव-व्यापार—"हृत्त न्त्री की झकार, नीरव सदेश, अभिसार, अनन्त-प्रतीक्षा, प्रियतम का दबे पाव आना"—शुक्लजी को वैसे ही कृत्रिम लगता है जैसे दरबारी कवियों का नायिकाभेदी ससार। वेदना का यह "प्रकाण्ड प्रदर्शन" शुक्लजी को असह्य था।

उपनिषदों स लेकर योगमार्ग तक का हवाला देकर रहस्यवाद को भारतीय साबित करने वाली दलीलों से शुक्लजी को सतोष नहीं होता। वह उसे विदेशी चीज कहते हैं, रहस्यवादियों पर अभारतीय होने का दोष लगाते हैं। योग, तन्त्र आदि में रहस्यवाद को वह साधनात्मक मानते हैं,

"प्रकृत भावभूमि" का मार्ग नहीं। कोई उपनिषदों में रहस्यवाद सिद्ध ही कर दे तो शुक्लजी उसे वह जवाब देते हैं : "संहिताओं और उपनिषदों को कभी किसी ने काव्य नही कहा।" वाल्मीकि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक किसी कवि ने अज्ञेय और अव्यक्त को प्रियतम बनाया हो तो उसकी साखी मानी जा सकती है।

"काव्य में रहस्यवाद" नाम के प्रसिद्ध निबंध में शुक्लजी ने रहस्यवाद पर विस्तार से सैद्धांतिक विवेचन करते हुए हल्ला बोला है। शुरू में उन्होंने एक नोट दिया है जिसका उद्देश्य शायद निबन्ध का तीखापन कुछ कम करना है। इसमें वह कहते हैं कि " मैं 'रहस्यवाद' का विरोधी नहीं।" उसे कविता की एक "शाखा विशेष" मानने के लिये वह तैयार हैं लेकिन उसे काव्य का सामान्य रूप मानने के लिए हर्गिज तैयार नहीं हैं। रहस्यवाद के लिये जो लम्बे-चौड़े दावे किये जाते हैं, उन्हें वह "किसी सभ्यजाति के" साहित्य के लिये शोभा की बात नहीं समझते। यद्यपि उदारता के आवेश में शुक्लजी ने रहस्यवाद को काव्य की शाखाविशेष मान लिया है लेकिन वास्तव में उनके लिये रहस्यवाद और असभ्यता में ज्यादा फासला नहीं है। रहस्यवादियों को ज्ञान का दावेदार बनते देखकर उन्हें असभ्य और पिछड़ी हुई जातियों के अन्धविश्वासों की बराबर याद आ जाती है।

अपने निबंध में वह रहस्य भावना को रमणीय और मधुर भी कह डालते हैं, उसे भी कवियों का एक "मूड" मानने को तैयार हो जाते हैं, लेकिन उसे किसी वाद से जोड़ कर "काव्य का सिद्धांतमार्ग" मानना उन्हें मंजूर नहीं है। जहां वाद की बात उठती है, वह रहस्यवाद को साम्प्रदायिक कहने लगते हैं; हिन्दी के रहस्यवादी कवियों से साम्प्रदायिक क्षेत्र से बाहर निकलकर वह "प्रकृत काव्यभूमि" पर आने का अनुरोध करते है। हिन्दी के नये रहस्यवादियों को पछाड़ने के लिये शुक्लजी जायसी और कबीर के परोक्ष-प्रेम को भी सराहने लगते हैं, उसे कई जगह अभारतीय कहते हुए यहां उसकी भारतीयता की दाद देते हैं। मुसलमान प्रेममार्गी कवियों के लिये वह कहते है, "वे सूफी 'रहस्यवाद' को भारतीय रूप देने में पूर्णतया सफल हुए थे। कबीर आदि निर्गुणपन्थियों और जायसी आदि सूफी प्रेम-मार्गियों ने 'रहस्यवाद'

की जो व्यजना की है, वह भारतीय भाव-भगी और शब्द-भगी को लेकर।"

किसी भी विचारधारा का विरोध करने के लिये उसे अभारतीय कहना यहाँ के तर्कशास्त्रियों का खास दाँव है। वह दाव शुक्लजी ने भी लगाया है। जायसी के परोक्षप्रेम को उन्होंने अभारतीय कहा, सूर और मीरा तक को अभारतीय सूफी मत से प्रभावित बतलाया, नये रहस्यवादियों का विरोध करने के लिए उन्होंने फिर अभारतीयता की दुहाई दी। लेकिन छायावादी कवि यों मानने वाले न थे। उन्होंने उपनिषदों आदि का हवाला देकर रहस्यवाद को भारतीय सिद्ध कर दिया। इस पर शुक्लजी ने पंतरा बदला और रहस्यवाद को साधना की चीज मान लिया लेकिन काव्य की चीज न माना। बहुत सङ्कट में उन्होने उसे काव्य की शाखाविशेष, कवियों का एक मूड भी स्वीकार कर लिया लेकिन उसे काव्य की प्रकृत भावभूमि न माना। उसे वह साम्प्रदायिक इसलिये भी कहते थे कि उन्होंने उसका विशेष सम्बन्ध ईसाई धर्म और शामी जातियों से जोड़ा था।

शुक्लजी के सामने रहस्यवाद का वर्ग-आधार स्पष्ट न था, इसलिये उसका विरोध करने के लिए उन्हें अभारतीयता के कमजोर तर्क का सहारा लेना पड़ा। उनके सामने मध्यकालीन कवियो आधुनिक पच्छिमी कवियों और भारत के रोमाटिक कवियों के रहस्यवाद का अन्तर भी स्पष्ट न था। इसलिये सब पर उन्होंने एक साथ ही हल्ला बोल दिया था। मध्यकालीन कवियो का रहस्यवाद—भारत और योरप दोनों जगह—अक्सर जाति-प्रथा, सामन्ती भेदभाव, ऊँचनीच के विचार और पुरोहितों के विरोध के साथ जुड़ा हुआ था। मध्यकालीन रहस्यवाद का सम्बन्ध मुख्यत किसानों, कारीगरा अछूतों आदि से था। लेकिन आधुनिक योरप का रहस्यवाद पूंजीवादी विचारधारा का एक अङ्ग था। उसका उद्देश्य वर्तमान सामाजिक जीवन की विषमताओं के प्रति उदासीन रहकर कल्पनालोक बसाना था। इस तरह वह साहित्य म यथार्थवाद का विरोध करने वाली एक प्रतिक्रियावादी विचारधारा बना। आधुनिक भारत में एक ओर रहस्यवाद का सम्बन्ध दुखवाद, निराशावाद, व्यक्तिवाद आदि से रहा है जिनके फलस्वरूप वह साहित्य की यथार्थवादी धारा को कमजोर करता रहा है। इन सब विशेषताओं को भारतीय

कहकर यहाँ के पूंजीवाद ने रहस्यवाद को खूब उछाला। दूसरी ओर उसका सम्बन्ध रूढ़िवाद और कर्मकांड के विरोध से भी रहा है और यहाँ वह मध्यकालीन रहस्यवाद की विशेषताएं लिये हुए है। फिर भी बीसवीं सदी में जन-आन्दोलन की बढ़ती के साथ रहस्यवाद समाज और साहित्व के लिये निरर्थक हो चुका था और यही कारण है कि छायावादी कवियों का सब से कमजोर पहलू उनका रहस्यवाद है।

शुक्लजी ने जहाँ भारतीय-अभारतीय का झगड़ा छोड़कर सीधे भाववाद (आइडियलिज्म) पर हमला किया है और उसके मुकाबले में वस्तुवाद (मैटीरियलिज्म) का समर्थन किया है, वहाँ उनका तर्क अकाट्य हैं और इस युग के लिये सबसे मूल्यवान भी है। वह काव्य की अनुभूति को निराली अनुभूति नहीं मानते। यह अनुभूति प्रत्यक्ष जीवन की ही अनुभूति है, वह काल्पनिक नहीं वास्तविक अनुभूति है। "काव्यदृष्टि" से यह दृश्य जगत् ब्रह्म की नित्य और अनन्त कल्पना है लेकिन यह कल्पना "अनन्त रूपात्मक" है, वह "व्यक्त और गोचर" है, वह "हमारी आँखों के सामने बिछी हुई है।" न तो जगत् परोक्ष है न जगत् का ज्ञान और न उसमें रहने वालों की अनुभूपि परोक्ष है। "हमारे हृदय का सीधा लगाव गोचर जगत् से है।" इसलिये गोचर जगत् छोड़कर सरस कविता लिखना असंभव है। ज्ञान इसी जगत का होता है, इन्द्रयबोध के आधार पर होता है। जिसे लोग रहस्यज्ञान कहते हैं, वह शुक्लजी के लिये ज्ञानातीत है। "काव्य में रहस्यवाद" में अँग्रेजी की रहस्यवादी कविताएं उद्धृत करने के बाद शुक्लजी ऐलान करते हैं, "यहाँ पर हम यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि उक्त ज्ञानातीत (Transcendental) दशा से—चाहे वह कोई दशा हो या न हो—काव्य का कोई संबन्ध नहीं है।"

युरोप की कविता में अज्ञात के लिये प्रेम कहाँ से उमड़ा, इसका विवेचन करते हुए उन्होंने सीधे "जर्मन दार्शनिकों के 'प्रत्ययवाद' (Idealism)" का खंडन किया है। शुक्यजी संसार की वस्तुगत सत्ता और इसलिये मनुष्य के ज्ञान की भी वस्तुगत सत्ता मानते हैं। वह "प्रत्ययवाद" या भाववाद का यह दाव मानने के लिये तैयार नहीं हैं

कि मनुष्य को इन्द्रियों द्वारा जिन रूपों का बोध होता है, वे उसके मन के ही रूप हैं। "कामायनी" की चर्चा करते हुए अपने इतिहास में शुक्लजी ने लिखा है, "प्रत्येक 'भाव का प्रथम अवयव विषय बोध ही होता है।" रहस्यवादियों की स्वप्नदशा भी विषय-बोध से परे नहीं होती। रहस्यवाद वाले निबंध में वह कहते हैं, "भावों के लिये आलंबन आरम्भ में ज्ञानेन्द्रिया उपस्थित करती हैं, फिर ज्ञानेन्द्रिया द्वारा प्राप्त सामग्री से कल्पना उनकी योजना करती है।" शुक्लजी के लिये ज्ञानेन्द्रियों से परे ज्ञान की सत्ता नहीं है। इसी गोचर ज्ञान के भीतर ही भाव-प्रसार होता है यद्यपि शुक्लजी गोचर जगत् को ब्रह्म की व्यक्त सत्ता मानते हैं, फिर भी काव्य के लिये वह अगोचर ब्रह्म की जरा भी आवश्यकता नहीं समझते। यही वह वस्तुवाद की भूमि है जहा से वह रहस्यवाद या मानवाद के झूठे दावों का खंडन करते हैं।

छायावादी कविता की रहस्यवादी विषयवस्तु के अलावा वह उसके निराशावाद, अबुद्धिवाद, भाग्यवाद आदि का भी खंडन करते हैं। बहुत ज्यादा रोने धोने का संबन्ध अगोचर ब्रह्म की अनुभूति से नहीं है। उसके ठोस सामाजिक कारण हैं। यह निराशा वर्तमान समाज में व्यक्ति के अलगाव, उसके मनोबल की क्षीणता, जन-आन्दोलनों से उसकी दूरी या तटस्थता की सूचक है। यह निराशावाद हिन्दी के मध्यवर्गी कवियों की अपनी विशेषता है। अपने इतिहास में शुक्लजी छायावाद में सचाई की कमी बतलाते हुए कहते हैं, "यदि कोई मृत्यु को केवल जीवन की पूर्णता कहकर प्रबल अभिलाप व्यंजित करे" तो इससे हमारा मनोरंजन हो सकता है, इसमें सचाई न होगी।

छायावाद की कला या उसके रूप पर शुक्लजी को कई आपत्तियाँ हैं पहले तो वह उसे "कला कला के लिये", इस सिद्धान्त से प्रभावित देखते हैं, उस पर पश्चिम के प्रतीकवाद का असर देखते हैं, इसके सिवा रचनाओं में अन्विति का अभाव—भावों और विचारों में सम्बद्धता का अभाव—भी उन्हें खटकता है। कल्पना की नयी दुनिया बसाना उन्हे निराधार क्रिया लगती है। कहीं-कहीं कवियों ने जो उपमानों के ढेर लगा

दिये हैं, व्याकरण का ध्यान नहीं रखा, लाक्षणिकता का जरूरत से ज्यादा प्रयोग किया है, उसकी उन्होंने तीव्र आलोचना की है।

शुक्लजी ने कई जगह छायावाद को शैलीमात्र कहा है। उनका तात्पर्य यह है कि बहुत से कवि सिर्फ लाक्षणिक शैली के सहारे छायावादी बन जाते हैं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, उनका मूल विरोध रहस्यवादी विषयवस्तु से है, परोक्षप्रेम, अगोचर प्रियतम और अनन्त की पुकार से है; शैलीमात्र से नहीं। यह धारणा सही नहीं है कि शुक्लजी छायावाद को एक शैली मात्र समझते थे। ऐसा होता तो वे बार-बार रहस्यवाद पर आक्रमण न करते। उनके लिये छायावाद की दो विशेषताएं हैं—विषयवस्तु में रहस्यवाद और रूप में अतिलाक्षणिकता। इन का उन्होंने विरोध किया है। विषयवस्तु और रूप, भाव-विचार और कला—दोनों पर बराबर ध्यान देने के कारण ही शुक्लजी ने इन दोनों विशेषताओं का खण्डन किया। यह बात उन्होंने इतिहास में बहुत साफ शब्दों में लिख दी है : "छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिये। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्यवस्तु से होता है..........'छायावाद' शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य शैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में।"

छायावाद को इन दो अर्थों तक सीमित नहीं किया जा सकता। छायावाद हिन्दी साहित्य की रोमांटिक धारा है। वह मूलतः रीतिकालीन परम्परा की विरोधी है। वह एक मानववादी धारा है जिसका एक कमजोर पक्ष रहस्यवाद भी है। आज अनन्त की ओर दौड़ने और अति-लाक्षणिक शैली के व्यवहार से हिन्दी के समर्थ कवि बच रहे हैं, यह बात शुक्लजी की आलोचना का समर्थन करती है। हिन्दी कविता का विकास रहस्यवाद के मार्ग पर नहीं हो रहा, न हो सकता है। शुक्ल जी ने हृत्तन्त्री वजानेवालों को कुछ जोर से झकझोर दिया, यह ठीक किया। लेकिन छायावादियों पर वाद विशेष से बँध जाने का दोष लगाते हुए वह स्वयं छायावाद को संकुचित वाद—रहस्यवाद—के अर्थ में लेते रहे। इसीलिये जब छायावादी कवियों की गैर-रहस्यवादी कविताएं

उनके सामने आई तो उन्हें छायावाद से बाहर की चीज माना। "निराला जी की रचना का क्षेत्र तो पहले से ही कुछ विस्तृत रहा।" इसका अर्थ यह है कि निरालाजी "छायावाद" की संकुचित मातृभूमि से बाहर रहे। "जुही की कली" और "शेफालिका" में "उन्मद प्रणय-चेष्टाओं के पुष्प-चित्र" अगोचर जगत् से प्रेम साबित न करते थे, "इस जगत् के बीच विधवा की विधुर और करुण मूर्ति" रहस्यवाद का प्रमाण न थी। इसी करुणा का सहज विकास करते हुए निरालाजी ने हलाहावाद के पथ पर "एक पत्थर तोड़ती दीन स्त्री के माथे पर के श्रमसीकर दिखाये।" इस तरह की रचनाएं छायावाद की संकुचित व्याख्या से मेल न खाती थीं लेकिन शुक्लजी ने व्याख्या को और विस्तृत करने के बदले इन रचनाओं को ही छायावाद से बाहर की चीज समझा।

वाद-विवेचन छोड़ दें तो शुक्लजी ने अलग-अलग कवियों का जो मूल्याङ्कन किया है, वह बहुत कुछ सही ठहरता है। छायावादी कवियों में वह निरालाजी को सबसे बहुमुखी प्रतिभा का कवि मानते थे, यह उनके अनेक वाक्यों से प्रकट होता है। छायावादी कवि अपना कल्पना-लोक छोड़ कर जहां वास्तविक जगत् की ओर आ रहे थे, उसका स्वागत करते हुए शुक्लजी ने लिखा है, "इसी प्रकार निरालाजी ने, जिनकी वाणी पहले से भी बहुमुखी थी, 'तुलसीदास' के मानस-विकास का बड़ा ही दिव्य और विशाल रंगीन चित्र खींचा है।" उनकी शैली के बारे में भी लिखा है, "निरालाजी की शैली कुछ अलग रही। उसमें लाक्षणिक वैचित्र्य का उतना आग्रह नहीं पाया जाता जितना पदावली की तड़क-भड़क और पूरे वाक्य के वैलक्षण्य का।" शुक्लजी के हिसाब से क्या विषयवस्तु में और क्या काव्य के रूप में निरालाजी सबसे कम छायावादी थे। इसका अर्थ यह हुआ कि उनमें रहस्यवादी उड़ान और मर्म-पीड़ा के हास वाली शैली सबसे कम थी, वह हिन्दी साहित्य की यथार्थवादी धारा के सबसे निकट थे।

प्रसाद जी के लिये शुक्लजी ने लिखा है कि शारीरिक व्यापारों पर उनकी दृष्टि ज्यादा जमती थी। उनके लिये रहस्यवाद एक पर्दा है जिसके

पीछे वास्तविकता है "मधुचर्या" की। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रसादजी सुखसौन्दर्य के कवि हैं, परोक्षचिन्तन बहाना भर है। "आँसू" में नियतिवाद और दुःखवाद के स्वर हैं; साथ ही कई जगह "वे आँसू लोकपीड़ा पर करुणा के आँसू से जान पड़ते हैं।" रहस्यवादी या छायावादी कवियों ने जहां भी लोकजीवन पर लिखा है, शुक्लजी ने उसका कभी तिरस्कार नहीं किया वरन् उसका स्वागत किया है। रवीन्द्रनाथ के बारे में उन्होंने लिखा है, "उनकी रहस्यवाद की वे ही कविताएं रमणीय हैं जो लोकपक्ष-समन्वित हैं"। (काव्य में रहस्यवाद)।

प्रसाद जी के "लहर" कवितासंग्रह में शुक्लजी को यह देख कर सन्तोष हुआ कि उसमें चार पांच रचनाएं ही रहस्यवाद की हैं। उन्हें प्रसन्नता हुई कि "लहर" में प्रसादजी "वर्तमान और अतीत जीवन की प्रकृत ठोसभूमि पर" कल्पना का चमत्कार दिखाने की ओर बढ़े थे। "कामायनी" में उन्होंने आनन्दवाद की प्रतिष्ठा देखी। इसका संबन्ध उन्होंने तांत्रिकों और योगियों की "अंतर्भूमि-पद्धति" से जोड़ा है। प्रसादजी न योगवादी थे, न भोगवादी थे। उनका दर्शन संसार को शिव का प्रत्यक्ष रूप मानता है और कामायनी लोक-कल्याण का प्रतीक है। प्रसादजी का "ज्ञान" योगियों का "ज्ञान" नहीं है, यह शुक्लजी की इस उक्ति से साबित होता है: "पीछे आया हुआ ज्ञान भी बुद्धिव्यवसायात्मक ज्ञान ही है (योगियों और रहस्यवादियों का पर-ज्ञान नहीं)।" प्रसाद जी ने एक खास तरह के ज्ञान, एक खास तरह के कर्म का विरोध किया है। वह ज्ञान और कर्म का समन्वय चाहते हैं और समन्वय लोक-कल्याण की भूमि पर होता है। लेकिन शुक्लजी का यह कहना सही है कि प्रसादजी ने कर्ममय जीवन के विशद चित्र नहीं दिये और उसे बहुधा यज्ञों, उद्योगधंधों और शासन-विधानों तक सीमित कर दिया है। शुक्ल जी का विचार है कि कर्म की व्यापक भावना के अन्दर "उग्र और प्रचंड भाव भी लोक के मंगल-विधान के अंग हो जाते हैं।" प्रसादजी ने इस पक्ष को कम लिया है, यह बात सही है यद्यपि यह दोष उनके उपन्यासों

और अनेक नाटकों में नहीं है।

शुक्लजी ने पतजी की रहस्यभावना को स्वाभाविक कहा है, उसे साम्प्रदायिकवाद से प्राय मुक्त बतलाया है। इस तरह प्रसाद-निराला पत, तीनो में रहस्यवाद अपने उस रूप में प्रकट नहीं हुआ जो शुक्लजी को सबसे ज्यादा अग्राह्य था (और पतजी तब तक अरविंद-आश्रम न गये थे।)।

"पल्लव" की भूमिका में पतजी ने पुरानी कविता पर—सूर आदि सत कवियो की रचना पर भी—जो आक्षेप किये थे, उन्हें शुक्लजी ने प्रतिभा के उत्साह का बहुत बढा-चढा प्रदर्शन कहा है। अग्रेजी कविता से भाव और प्रयोग लेने का दोष शुक्लजी ने पतजी पर ही लगाया है, निराला या प्रसाद पर नहीं। आसुओं को "नयनों का बाल" कहना "केवल चमत्कार और वक्रता के लिये" जान पड़ता है। पतजी को आगे चल कर जैसे "चिर" शब्द प्रिय हुआ, वैसे पहले "बाल" शब्द प्रिय था। "बाल शब्द जोडने की प्रवृत्ति बहुत अधिक पाई जाती है।" शब्दों का मनमाने लिंगों मे प्रयोग, "मर्मपीड़ा के हास" जैसे प्रयोगों मे दवल-लक्षणा, उपमानो के ढेर लगाना जहा "बहुत से उपमान पुराने ढग के खेलवाड़ के रूप मे भी हैं", तिमिर चरते हुए शशि-शावक, कवि के उर में डेरा डालने वाले नक्षत्ररूपी शुचि उलूक—आदि पत-काव्य की अपनी विशेषताए हैं। शुक्लजी पूछते हैं, "पर इतने उल्लू यदि डेरा डालेंगे तो मन की क्या दशा होगी ?" यदि शुक्लजी "स्वर्ण किरण" और "स्वर्ण धूलि" पढने को जीवित रहते तो उन्हें अपने प्रश्न का उत्तर मिल जाता।

इन कमजोरियों के बावजूद पतजी में जहा सहज रोमाटिक कल्पना मिली है, शुक्लजी ने उसकी दाद दी है। प्रकृति-चित्रण की प्रशसा विशेष-रूप से की है। लेकिन कलावाद के सस्कार के कारण पतजी की दृष्टि व्यापक नहीं हुई, बादल के दर्शन से "तप्त कृषकों के आशापूर्ण उल्लास तक" नहीं गई, इसकी शिकायत भी की है।

पतजी ने दर्शन और अर्थ शास्त्र के अनेक सूत्रों को पद्यबद्ध किया

है—और सदा उनके मूल रूप की रक्षा भी नहीं कर पाये है—लेकिन उनका असली रूप सौन्दर्यवादी का ही है, उसे वह छोड़ नहीं पाये। सौन्दर्यवादी का रूप सदा सुन्दर नहीं होता, वह व्यक्तिवाद और कृत्रिमता के दायरे में बन्द रहता है लेकिन पंतजी जब कोशिश करके लोक-जीवन के नजदीक आते हैं तब भी मानों जुल्फें सँभालते हुए, पतलून की क्रीज़ का ध्यान रखते हुए। प्रगतिशील विचारधारा से कुछ दिन तक उनकी "बौद्धिक सहानुभूति" का यही रहस्य है। शुक्लजी ने लिखा है, "कलावाद के प्रभाव से जिस सौन्दर्यवाद का चलन योरप के काव्यक्षेत्र के भीतर हुआ, उसका पंतजी पर पूरा प्रभाव रहा है।" यह बात सोलह आने ठीक है। पंतजी के अध्यात्मवाद और सौन्दर्यवाद में विशेष अन्तर नहीं है। एक आत्मा का शृंगार है तो दूसरा शरीर का। हैं दोनों शृंगार ही। मनुष्य के कर्ममय जीवन से दोनों दूर हैं। इस पर भी जहां पंतजी लोकजीवन की ओर कदम उठाते दिखे हैं, शुक्लजी ने उसका स्वागत ही किया है।

नयी कविता के विवेचन में शुक्लजी ने द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक कविता की सीमाएं दिखाईं, संस्कृत छंदों और संस्कृत पदावली के व्यवहार को अनचाहा प्रभाव कहा, रहस्यवाद का खंडन किया, कविता से निराशावाद, भाग्यवाद, अतिलाक्षणिकता की शैली को दूर करने का आग्रह किया। यद्यपि छायावाद की व्याख्या ऐतिहासिक दृष्टि से सही नहीं है और रहस्यवाद को अभारतीय कहने से उसका खंडन नहीं होता, फिर भी शुक्लजी ने छायावादी कवियों की लोकजीवन सम्बन्धी कविताओं का समर्थन किया, साहित्य में अगोचर के बदले गोचर जगत् पर बल दिया, छायावादी कविता का लोकगीतों की परम्परा से सम्बन्ध जोड़ते हुए सच्ची रोमांटिक भावभूमि पर आगे बढ़ने का सुझाव दिया। उनका यह विवेचन हिन्दी आलोचना के लिये ही नहीं, हिन्दी कविता की प्रगति के लिये भी बहुत उपयोगी है।

इतिहास, जातीयता और साहित्य के रूप

यहाँ हम तीन समस्याओं पर विचार करेंगे, हिन्दी साहित्य के इतिहास में काल-विभाजन की समस्या, साहित्य के जातीय रूप और उसकी जातीय विशेषताओं की समस्या, और नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि साहित्य के रूपों की समस्या। इन सभी पर शुक्लजी की कुछ विशेष मान्यताएं हैं जिनमें से कुछ की ओर विद्वानों का ध्यान गया है और उनके खण्डन की भी कोशिश की गई है, कुछ की ओर ध्यान कम गया है या ज्यादातर आलोचक उनकी ओर उदासीन रहे हैं।

पहली समस्या इतिहास में काल-विभाजन की है। हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखना आज भी सरल काम नहीं है। इसका सबसे बड़ा कारण आवश्यक सामग्री का उपलब्ध न होना है। हाथ की लिखी किताबें एक तरफ राजस्थान में पड़ी हैं तो दूसरी तरफ नेपाल में। इन पर जो खोज का काम हुआ है, वह बहुत कुछ असंगठित और अव्यवस्थित है। जो सामग्री

उपलब्ध है, उसके छापने की भी कोई संगत व्यवस्था नहीं है। मध्यकाल तो दूर, आज से सत्तर साल पहले जो साहित्य रचा गया था, वह जहां-तहां पत्रिकाओं की जिल्दों में बन्द दीमकों के हवाले हो रहा है; वह भी रद्दी में बिकने से बच गया हो तो।

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने में दूसरी कठिनाई यह है कि हिन्दी की अनेक बोलियों में समृद्ध साहित्य रचा गया है और इनमें से कई एक—जैसे अवधी ब्रज और मैथिल—का साहित्य कम से कम परिमाण में इतना विशाल है, जितना यूरोप और भारत की कई भाषाओं का आधुनिक साहित्य न होगा। इस साहित्य का विस्तृत अध्ययन किये बिना हिन्दी साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास नहीं लिखा जा सकता।

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने के साथ अभी भाषा-विज्ञान और सांस्कृतिक इतिहास आदि की अनेक समस्याएं जुड़ी हुई हैं जिन पर विस्तार से विचार करने की जरूरत है। मिसाल के लिये राजस्थानी में जो साहित्य मिलता है, उसे हिन्दी साहित्य में लिया जाय या नहीं? अपभ्रंश में रचा हुआ साहित्य पुरानी हिन्दी का साहित्य माना जाय या उससे स्वतन्त्र? मैथिली और हिन्दी का क्या सम्बन्ध है? मैथिली हिन्दी से स्वतन्त्र भाषा है या उसकी एक बोली? दकनी हिन्दी, फारसी लिपि में लिखी हुई हिन्दी, अरबी-फारसी मिश्रित हिन्दी यानी उर्दू के साहित्य को हिन्दी साहित्य में लिया जाय या नहीं? इस तरह की बहुत सी समस्याएं है।

शुक्लजी से पहले मिश्रबन्धुओ और अन्य बिद्वानों ने जो खोज का काम किया था, उससे उन्होंने लाभ उठाया, उनके समय में जो खोज का काम होता गया वह उसकी जानकारी भी रखते रहे, इसके सिवा जायसी आदि पर उन्होंने खुद भी अनुसंधान का काम किया। लेकिन शुक्लजी का महत्व सबसे ज्यादा इतिहास के अध्ययन की एक व्यवस्थित पद्धति कायम करने में है, अनुसन्धान में नही। अनुसन्धान से कुछ ग्रन्थो की तिथियों में हेर-फेर हो सकता है, कुछ ग्रन्थ जाली साबित हो सकते हैं, कुछ नये ग्रन्थ सामने आ सकते हं लेकिन यह हर किसी रिसर्चस्कालर का काम

नहीं हैं कि वह इतिहास के अध्ययन की एक व्यवस्थित पद्धति भी कायम कर दे।

शुक्लजी ने अपने इतिहास में हिन्दी साहित्य के पहले युग को आदिकाल कहा है। इसमें उन्होंने अपभ्रंश साहित्य पर विचार किया है और वीरगाथा काव्यों की प्रामाणिकता आदि का विवेचन किया है। इसके बाद उन्होंने दूसरे युग को पूर्व मध्यकाल कहा। इसमें निर्गुण, सगुण-वादी भक्त कवियों और जायसी आदि प्रेममार्गी कवियों का विवेचन किया है। तीसरा युग उत्तरमध्यकाल है जिसमें रीतिग्रन्थकारों को लिया है। चौथा युग आधुनिक काल है जिसमें आधुनिक गद्य के विकास, भारतेन्दु और द्विवेदीकालीन साहित्य और छायावाद आदि की चर्चा है।

इस व्यवस्था में शुक्लजी ने दो चीजें मिलाने की कोशिश की है, एक तो कालक्रम और दूसरी किसी साहित्यिक धारा की विशेषताएं। इन दोनों बातों का अन्तर ध्यान में रखना चाहिये। हिन्दी साहित्य का व्यवस्थित अध्ययन करने में दूसरी बात का महत्व ज्यादा है, पहली का कम। कालक्रम के हिसाब से कोई रचना आगे पीछे की साबित हो सकती है, इससे यह साबित होना लाजिमी नहीं है कि वह किसी साहित्यिक धारा के अन्तर्गत भी नहीं आ सकती।

शुक्लजी ने अपना इतिहास एक विशेष आवश्यकता की पूर्ति के लिये लिखा था। यह आवश्यकता विश्वविद्यालयों में हिन्दी पढने-पढाने वाले छात्रों और अध्यापकों की थी। इसका जिक्र उन्होंने अपने इतिहास के पहले सस्करण के वक्तव्य में किया है। हिन्दी शब्द सागर समाप्त होने पर उसकी भूमिका के रूप में भाषा और साहित्य के विकास पर लिखना, यह दूसरी आवश्यता थी और "एक नियत समय के भीतर ही यह इतिहास लिखकर पूरा करना पड़ा।" इससे साहित्य का इतिहास लिखने के लिये जितनी अधिक सामग्री मैं जरूरी समझता था उतनी तो उस अवधि के भीतर न इकट्ठी हो सकी।" बाद के सस्करणों में शुक्लजी ने और भी आवश्यक सामग्री से लाभ उठाकर अपने इतिहास को और भरा-पूरा बनाया।

शुक्लजी के बाद सक्षिप्त और सुबोध इतिहासों की बाढ आ गई। कुछ

बृहत्काय इतिहास भी लिखे गये। इनमें से ज्यादातर चोरी का माल है, शुक्लजी की निधि से माल लेकर टके सीधे करने का व्यापार हैं; बहुत कम लोगों ने नये सिरे से अध्ययन करके हिन्दी साहित्य के इतिहास में कुछ नया जोड़ने की कोशिश की है। विद्यार्थियों के लिये लिखना बुरा नहीं है लेकिन जहाँ इस लिखने का उद्देश्य ज्ञान-वृद्धि न होकर परीक्षा पास कराना भर होता है, वहाँ इतिहास-लेखन पैसाकमाऊ व्यापार मात्र हो जाता है।

शुक्लजी अपने समय में तो इतिहास-लेखन में दिग्विजयी हुए ही थे, उनके बाद भी उनका काल-विभाजन—या हिन्दी साहित्य की मुख्य धाराओं का विभाजन—बहुत कुछ अपने मूल रूप में कायम है। कुछ लोगों ने जोर बहुत लगाया लेकिन शुक्लजी की कायम की हुई व्यवस्था टस से मस न हुई। वीरगाथा, निर्गुण और सगुण भक्ति, प्रेमकथानक, रीतिकाव्य, भारतेन्दु युग छायावाद आदि का सिलसिला अब भी चला आता है। "रीतिकाव्य की भूमिका" में डा० नगेन्द्र कुछ अनमने से गणेशवन्दना करते हुए लिखते हैं, "आज पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा किया हुआ हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन प्रायः सर्वमान्य सा ही हो गया है। "शुक्लजी की दिग्विजय का यह प्रमाण है। उनका काल-विभाजन सर्वमान्य सा ही हो गया है, उन्होंने भगीरथ परिश्रम करके जो इतिहास लिखने की धारा प्रवाहित की थी, उसमें दो डुबकियाँ लगाये बिना डा० नगेन्द्र का भी कल्याण नहीं है। सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात यह है कि डा॰ नगेन्द्र के अनुसार शुक्लजी का काल-विभाजन "वास्तव में सर्वथा निर्दोष न होते हुए भी, वह बहुत कुछ संगत तथा विवेकपूर्ण है।" विवेकपूर्ण होने की वजह से नये इतिहास-लेखकों को मौलिकता का दावा करने में काफी कठिनाई होती है।

इधर एक ताजा इतिहास शुक्लजी की ही अध्यापनभूमि में कार्य करने वाले विद्वान् विचारक और अनुसन्धानकर्ता आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है। जो लोग शुक्लजी को विवेकपूर्ण न मानते हों, वे कृपया द्विवेदी जी के इतिहास का ढांचा और विषयवस्तु देखें और इस बात पर विचार करें कि द्विवेदी जी जैसे विद्वान् ने भी शुक्लजी की ही व्यवस्था स्वीकार की है या नही। आदिकाल से लेकर छायावाद तक द्विवेदी जी ने

है। राजाओं के चारणों ने काव्य लिखे, वे बहुत कुछ राजकीय पुस्तकालयों और कवियों के वंशजों में सुरक्षित रहे। उनमें हेरफेर होने पर भी जो परंपरा सिद्ध होती है, उसी के आधार पर उन्होंने इस युग को वीरगाथा काल कहा है। लिखा है, "उत्तरोत्तर भट्ट चारणों की परंपरा में चलते रहने से उनमें फेरफार भी बहुत कुछ होता रहा। इसी रक्षित परंपरा की सामग्री हमारे हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल में मिलती है। इसी से यह काल वीरगाथा काल कहा गया।"

इससे बिल्कुल स्पष्ट है कि ग्रन्थों में फेरफार की खबर शुक्लजी को भी थी लेकिन उन्होंने वीरगाथा काल नाम उस परंपरा के आधार पर दिया जिसकी खबर उनके कुछ परवर्ती इतिहासकारों को नहीं है।

खुमानरासो के संदिग्ध होने के बारे में शुक्लजी ने लिखा था, "यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय जो खुमानरासो मिलता है, उसमें कितना अंश पुराना है।" और भी, "यह नहीं कहा जा सकता कि दलपति विजय असली खुमानरासो का रचियता था अथवा उसके पिछले परिशिष्ट का।"

द्विवेदीजी ने इन्हीं धारणाओं का सार प्रस्ट करते हुए यह वाक्य लिखा है, "स्पष्ट ही यह ग्रन्थ उतना प्राचीन नहीं जितना समझा गया है।"

शुक्लजी की धारणाओं को दोहराने में कोई नुकसान नहीं लेकिन उनका ऋण भी स्वीकार करना चाहिये, खास तौर से जब सामग्री के अलावा वाक्य भी शुक्लजी के वाक्यों से मिलते-जुलते हों।

शिवसिंह सरोज का हवाला देते हुए शुक्लजी ने खुमानरासो के बारे में लिखा था, "शिवसिंह सरोज के कथनानुसार एक अज्ञातनामा भाट ने खुमानरासो नामक एक काव्य ग्रन्थ लिखा था जिसमें श्रीरामचन्द्र से लेकर खुमान तक के युद्धों का वर्णन था।"

इसी विषय पर द्विवेदी जी ने लिखा है, "खुमानरासो नामक पुस्तक के बारे में शिवसिंह सरोज में बताया गया है कि किसी अज्ञातनामा भाट ने खुमानरासो नाम का काव्य लिखा था, जिसमें श्री रामचन्द्र से लेकर खुमान तक के नरपतियों का वर्णन है।"

"शिवसिंह सरोज के कथनानुसार"—इस टुकड़े का सरल रूप "खुमान-

रासो नामक पुस्तक के बारे में" आदि है। अज्ञातनामा भाट ने खुमान-रासो नामक काव्य लिखा था" यह टुकड़ा दोनों जगह है, सिर्फ द्विवेदी जी में "नामक" का सरलरूप "नाम का" होगया है। द्विवेदीजी ने लिखा था" के बाद एक कामा भी लगा दिया है जो उचित है क्योंकि शुक्लजी कामा के बारे में काफी लापर्वाह जान पड़ते हैं। लेकिन श्री रामचन्द्र से लेकर खुमान तक के युद्धों का वर्णन"—यह टुकड़ा तो ठीक है, द्विवेदीजी में युद्धों की जगह नरपतियों ने ले ली है (शायद युद्धों का सम्बन्ध वीरगाथा से है, इसलिए द्विवेदी जी ने उन्हें हटा दिया हो) और "खुमान तक के युद्धों" की जगह "खुमान तक के नरपतियों" लिखा गया है जो बेमानी है। ,'तक के" की जगह "तक" लिखा जाता तो ठीक था। शायद जल्दी में द्विवेदी जी "के" हटाना भूल गये हैं। यह भी हो सकता है कि "तक के नरपतियों" मुहावरेदार हिन्दी हो क्योंकि द्विवेदी जी ने आगे भी इसके सम पर एक और टुकड़ा बिठाया है—महाराणा राजसिह "तक के राजाओं का वर्णन है"!

वीसलदेव रासो के बारे में शुक्ल जी ने लिखा है, 'दिए हुए संवत् के विचार से कवि अपने चरितनायक का समसामयिक जान पड़ता है पर वर्णित घटनाएँ, विचार करने पर, बीसलदेब के बहुत पीछे की लिखी जान पड़ती हैं, जबकि उनके संबन्ध में कल्पना की गुंजाइश हुई होगी।" शुक्ल जी ने भोज की लड़की से बीसलदेव के ब्याह की बात कल्पित ठहराई है क्योंकि भोज का देहान्त बीसलदेव से सौ बरस पहले हो चुका था। भोज के सिवा माघ और कालिदास के नाम जोड़ने का भी उन्होंने उल्लेख किया है। बीसलदेव रासो की भाषा की जाँच करने के बाद शुक्ल जी ने यह नतीजा निकाला है कि "यह पुस्तक न तो वस्तु के विचार से और न भाषा के विचार से अपने असली और मूल रूप में कही जा सकती है।"

द्विवेदी जी भी शुक्ल जी की तरह इसे "संदिग्ध" रचना मानते हैं लेकिन शुक्लजी की तरह यह नहीं कहते कि "यह नरपति नाल्ह की पोथी का विकृत रूप अवश्य है।"

चन्द "दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट्" के राजकवि कहे जाते हैं, इसलिये "इनके नाम में भावुक हिन्दुओं के लिए एक विशेष प्रकार का आकर्षण

गये हैं, वे शार्ङ्गधर के हों चाहे और किसी कवि के, मुख्य बात यह कि इनसे भी उसी काव्य-परम्परा के अस्तित्व का समर्थन होता है। शुक्लजी ने इस काव्य-धारा की कुछ विशेषताएँ बतलाई हैं जो उसे और दरबारी कविता से अलग करती हैं। ये ग्रन्थ ज्यादातर पश्चिम में लिखे गये हैं। इनमें वीररस के पद्य अक्सर छप्पय में हैं। इनकी भाषा पर प्राकृत की रूढ़ियों का गहरा असर है। खुसरो की भाषा के सिलसिले में शुक्लजी ने लिखा है, "उसका ढाँचा कवियों और चारणों द्वारा व्यवहृत प्राकृत की रूढ़ियों से जकड़ी काव्य भाषा से भिन्न था।" वीरगाथा काव्यों की वीरता किस तरह की थी, यह शुक्लजी अच्छी तरह जानते थे। पच्छिम में जो गहरवार, चौहान, चन्देल आदि राज्य थे, "वे अपने प्रभुत्व की वृद्धि के लिये परस्पर लड़ा करते थे। लड़ाई किसी आवश्यकता-वश नहीं होती थी, कभी कभी तो शौर्य-प्रदर्शन मात्र के लिए यों ही मोल ली जाती थी। बीच बीच में मुसलमानों के भी हमले होते रहते थे।" इसके सिवा इस सामन्ती वीर रस का विशेष संबंध शृङ्गाररस से भी था। "किसी राजा की कन्या के रूप का संवाद पाकर दलबल के साथ चढ़ाई करना और प्रतिपक्षियों को पराजित कर उस कन्या को हर कर लाना वीरों के गौरव और अभिमान का काम समझा जाता था।" बाद के सामन्त लड़ाई-भिड़ाई का काम बिल्कुल छोड़कर कन्या-हरण का काम कुटनियों के सहारे किया करते थे या सामन्तों की कन्याओं के लिए लड़ने के बदले किसी गरीब प्रजा की बहू बेटी भगा लाते थे। उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा ने ऐसे रसिक ब्रजराजों का वर्णन अपने "टूटे काँटे" नामक उपन्यास में किया है। जो लोग सामन्ती वीरता के कल्पित चित्र खींचा करते हैं, वे प्रजा के शोषण की बात तो भूल ही जाते हैं, प्रभाव-विस्तार और शौर्य-प्रदर्शन के लिये सामन्तों के युद्ध, कन्या हर लाने में वीरता के गौरव की बात भूल जाते हैं। अतिशयोक्ति सामन्ती काव्य का मुख्य अलङ्कार है। दरबारी शृङ्गार-काव्य की तरह वीरकाव्य में भी अत्युक्तियों की भरमार रहती थी। शुक्लजी ने लिखा है, "उस समय जो भाट या चारण किसी राजा के पराक्रम, विजय, शत्रु-कन्या-हरण आदि का अत्युक्ति पूर्ण आलाप करता या रणक्षेत्रों में जाकर वीरों के हृदय में उत्साह की उमंगें भरा करता था, वही

सम्मान पाता था।" बाद के सामन्ती कवियों ने यह उमंगें भरने का काम भी छोड़ दिया था जिससे सामन्ती दरबारों का और भी पतन सूचित होता है।

वीरगाथा काव्य शुद्ध वीर रस के काव्य न थे। उनमें "शृङ्गार का भी थोड़ा मिश्रण रहता था" यद्यपि शुक्लजी ने उसे गौण रूप से ही आता हुआ कहा है। लेकिन जहाँ राजनीतिक कारणों से भी युद्ध होता था; वहाँ भी उन कारणों का उल्लेख न कर कोई रूपवती स्त्री ही कारण कल्पित करके रचना की जाती थी",—शुक्लजी की बात यह सही हो तो मानना पड़ेगा कि वीरगाथा काव्यों की मूल प्रेरणा भोग-विलास की कामना ही थी। बीसलदेव रासो के लिये शुक्लजी ने लिखा है कि उसमें शौर्य के वर्णन के बदले शृङ्गार की अधिकता है। उन्हें उसके साथ "रासो" शब्द का जुड़ा होना खटका है लेकिन कहीं कम, कहीं ज्यादा, ये सभी रासो थे तो भोग-विलास की इच्छा-पूर्ति के वीर काव्य ही।

ऊपर के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वीरगाथा काव्य हिन्दी की एक विशेष धारा है, इस धारणा के प्रतिनिधि ग्रन्थ अधिकतर अप्रामाणिक हैं लेकिन उनसे एक वीरगाथा काव्य की परम्परा का अस्तित्व सिद्ध होता है, इनकी अप्रामाणिकता का बहुत स्पष्ट उल्लेख आचार्य शुक्ल ने किया था, आदि काल के अन्तर्गत श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उन्हीं ग्रन्थों की चर्चा की है जिनकी शुक्लजी ने की थी और द्विवेदीजी ने शुक्लजी की स्थापनाओं को ही नहीं दोहराया, कभी-कभी उनके वाक्यों को भी दोहराया है और अन्त में यह कि वीरगाथा काव्यों से किसी स्वर्ण युग की कल्पना न करनी चाहिये वरन् कन्या-हरण, परस्पर युद्ध और शूरता के अतिरंजित वर्णन भी ध्यान में रखने चाहियें। विदेशी आक्रमणकारियों के खिलाफ भी युद्ध हुए लेकिन इन सामन्ती काव्यों में देश रक्षा का भाव प्रायः नहीं है।

अब हम दूसरी समस्या लेते हैं। यह समस्या साहित्य के जातीय रूप और उसकी जतीय विशेषताओं की है। भाषा साहित्य का रूप है। हमारे साहित्य का जातीय रूप हिन्दी भाषा है। हिन्दीभाषी क्षेत्र में अनेक

बोलियाँ बोली जाती हैं। इनमें खड़ी बोली हमारी जातीय भाषा बनी; बाकी बोलियाँ रहीं। शुक्लजी ने खड़ी बोली के प्रसार के मुख्य ऐतिहासिक कारणों का उल्लेख किया और साहित्य में उसके विकास की रूपरेखा तैयार की। हिन्दीभाषी प्रदेश एक पिछड़ा हुआ प्रदेश है। यहाँ के लोगों में जातीय चेतना का प्रसार उस तरह नहीं हुआ जैसे बंगाल, महाराष्ट्र, तमिलनाडु या आन्ध्र में। यहाँ पर सामन्तवाद का गहरा असर, बड़ी-बड़ी ताल्लुकदारियाँ, वर्णव्यवस्था की कट्टरता, हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव और अंग्रेजों की कूटनीति—इन सब कारणों से यहाँ का औद्योगिक और सांस्कृतिक विकास अवरुद्ध रहा है। यहाँ पर व्यापार करने वाले, उद्योगधन्धे चलाने वाले, ऊँची नौकरियों पर काम करने वाले भी प्राय: बाहर से आते रहे हैं। यहाँ के गरीब "परदेस" जाकर कहीं दूध बेचते रहे या दरबानगीरी करते रहे। इसलिये कई प्रदेशों के कुछ शिक्षित कहलाने वाले लोग यहाँ वालों को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। यही नहीं, यहाँ की भाषा और साहित्य को भी गँवारू और पिछड़ा हुआ समझने लगे। ऐसे लोगों की तादाद खुद इस प्रदेश के अन्दर कम नहीं है। कुछ तो अंग्रेजी का नाम-मात्र ज्ञान रखने वाले लोग हैं जो हिन्दी में अभाव ही अभाव देखते हैं और कुछ काम की बात उन्हें दिख भी गई तो उसे अंग्रेजी की देन समझते हैं। मैंने ऐसे कितने लोगों को यह कहते सुना है कि शुक्लजी ने अंग्रेजी से कुछ बातें लेकर हिन्दी आलोचना में रखी हैं लेकिन वह भी पुरानपन्थी विक्टोरियन थे, अभी हिन्दी आलोचना में कहने लायक कोई काम हुआ नहीं है। इन अंग्रेजीदाँ विद्वानों के अलावा रघुपतिसहाय फिराक जैसे कुछ उर्दूदाँ विद्वान हैं जिनका दिल हिन्दी साहित्य के लिये जितना ही उपेक्षा से भरा हुआ है, उनका दिमाग उसकी जानकारी से उतना ही खाली है। आठ दस साल पहले फिराक को हिन्दी साहित्यिकों से बातचीत करने का शौक पैदा हुआ। इलाहाबाद के एक पत्र में उनकी बातचीत छपना शुरू हुई और उसमें उन्होंने भारतेन्दु से लेकर निराला तक के साहित्य को घटिया और बचकाना बतलाया। शुक्लजी पर खास मेहरबानी करके उन्होंने फर्माया कि उनसे अच्छे निबन्ध कालेज के विद्यार्थी लिख लेते हैं। उनकी आलोचना के लिए यह

राय जाहिर की कि कोई नई चीज देना तो दूर, शुक्लजी जैसे आलोचकों में यह तमीज भी न थी कि ग्रियर्सन वगैरह की लिखी आलोचना समझ भी सकें !

फिराक ने ये सब बातें उर्दू लेखकों और पाठकों के प्रतिनिधि की हैसियत से कहीं हैं, यह मानना गलत होगा। लेकिन हिन्दी साहित्य से बिना काफी परिचय हुए उस पर राय देने की आदत उर्दू के कई लेखकों में पाई जाती है, यह सही है। अभी भी रवैया हिन्दी-उर्दू की छुटाई-बड़ाई नापने का है, दोनों का साहित्य एक ही कौम का साहित्य है, यह समझ कम है। लेकिन हमें शिकायत उर्दू के लेखकों और पाठकों से नहीं है, वे जितना उर्दू को प्यार करते हैं और उसके साहित्य को रचने और सँवारने में तत्पर रहते हैं, उतना राष्ट्र भाषा का डंका पीटने वाले लोग नहीं। उनका उर्दू-प्रेम खड़ी बोली के ही एक रूप का प्रेम है, इसलिये राष्ट्रभाषा प्रेमियों को उर्दू वालों से सीखकर हिन्दी को समृद्ध करने की कोशिश करना चाहिये।

हिन्दी साहित्य की जातीय विशेषताओं और उसके सहज विकास के सबसे बड़े शत्रु वे हिन्दी वाले ही हैं जो रूढ़िवाद के गुलाम हैं और हिन्दी को तङ्ग सामन्ती दायरे से बाहर निकलने नहीं देना चाहते। इनके लिये साहित्य का जो कुछ विकास होना चाहिए था, वह संस्कृत में हो चुका, हिन्दी में अगर कोई अच्छाई है तो यह कि वह संस्कृत के नजदीक है और तत्सम शब्दों की भरमार करके और भी राष्ट्रीय बनाई जा सकती है। इन लोगों का दिमाग संस्कृत ही नही, अंग्रेजी और फारसी के लिये भी पायन्दाज है। हिन्दी के ज्यादातर रूढ़िवादी हिन्दी के बारे में शोर मचाने के बावजूद हिन्दी साहित्य से अपरिचित हैं, उनके मन में हिन्दी के लिये जरा भी सम्मान की भावना नहीं है। वह अंग्रेजी और संस्कृत से आतंकित हैं यद्यपि जानते उनकी प्रगतिशील परम्पराओं को भी नहीं हैं।

आचार्य शुक्ल हिन्दी प्रदेश की पददलित और अपमानित जनता के सम्मान-रक्षक थे। विरोधियों से ज्यादा बहस में न पड़कर उन्होंने हिन्दी आलोचना को समृद्ध करने का बीड़ा उठाया। उन्होने हिन्दी के अलावा

संस्कृत, अंगरेजी बंगला आदि के साहित्य का गंभीर अध्ययन किया और अपने मौलिक चिन्तन से हिन्दी आलोचना में युगान्तर पैदा कर दिया। इस कार्य में उनके मनोबल को दृढ़ करने वाली प्रेरणा जातीय सम्मान की भावना थी, इसमें सन्देह नहीं। एक पराधीन देश में जातीय सम्मान की भावना एक साम्राज्यविरोधी क्रांतिकारी भावना है। वह विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध अपनी भाषा और संस्कृति की रक्षा और विकास के लिये जनता को संघर्ष करने की प्रेरणा देती है। इस भावना को दंभ और अहंकार का रूप देकर पूँजीवादी दल फायदा भी उठाता है, एक ही देश की जातियों को परस्पर लड़ाता है। इसलिये जातीय सम्मान की भावना का सही विकास तब होता है जब एक ओर वह अपने ही रूढ़िवाद का विरोध करे और दूसरी ओर वह अन्तरराष्ट्रीयता की भावना के साथ जुड़ा हो। शुक्लजी में ये दोनों बातें पायी जाती हैं। एक ओर तो वे दरबारी काव्य-परम्परा, चमत्कार आदि के कट्टर विरोधी हैं, दूसरी ओर-उन्होंने भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन को विश्व साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन का ही एक अंग बतलाते हुए इसे एक बहुत बडी बात कहा था।

भारत की सभी भाषाओं और उनके साहित्य पर सबसे पहले और सबसे ज्यादा दबाव अँगरेजी भाषा और साम्राज्यवादी अंग्रेजों की संस्कृति का था। यहाँ पर अन्धविश्वासों को कायम रखने, सामन्ती अवशेषों को मजबूत बनाने और शिक्षा के नाम पर अंग्रेजी का आतंक जमाने और नौजवानों को अपने देश से विमुख करने में सबसे ज्यादा प्रयत्नशील यहाँ के अंग्रेज शासक थे। इसलिये शुक्लजी का वार सबसे पहले उन्हीं पर था। हम ऊपर देख चुके हैं, किस तरह उन्होंने इस अंग्रेजी प्रचार का खंडन किया है कि हिन्दी गद्य का विकास अंग्रेजों की कृपा का फल था। शुक्लजी के विश्लेषण से सिद्ध हुआ कि हिन्दी गद्य का विकास यहीं के सामाजिक विकास का परिणाम था। इस तरह उन्होंने झूठे अंग्रेजी प्रचार का खंडन किया, इस प्रचार से वे हिन्दी जनता के हितैषी होने का भ्रम फैला रहे थे, उसे दूर किया। मैकॉले और उससे प्रभावित हिन्दुस्तानियों

के मन में यहाँ की भाषाओं के लिये उपेक्षा का भाव रहता था। इन लोगों ने जब अंग्रेजी में शिक्षा प्रचार का काम शुरू किया यानी अंग्रेजी राज के लिये अंग्रेजी पढ़े नौकर तैयार करने लगे तब यहाँ की भाषाओं को नीचा दर्जा दिया या उन्हें शिक्षा के ही अयोग्य समझा। इस परिस्थिति की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने अपने इतिहास में लिखा है, "देशी भाषा पढ़कर भी कोई शिक्षित हो सकता है, यह विचार उस समय तक लोगों का न था।" शुक्लजी उन देशभक्त लेखकों में थे जो यह सिद्ध करना चाहते थे कि देशभाषा में शिक्षा जरूरी है और इसके बिना और सब शिक्षा अधूरी है।

अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों में पहले हिन्दी के लिये किस तरह की उपेक्षा थी और वह कैसे दूर हुई, उसका रोचक वर्णन शुक्लजी ने गद्य साहित्य के प्रसार के सिलसिले में किया है। भारतेन्दुकाल में यह "बहुत बड़ी शिकायत" रहा करती थी कि अंग्रेजी की ऊँची शिक्षा पाये हुए लोग हिन्दी की सेवा नहीं करते। द्विवेदी युग में यह शिकायत कुछ दूर हुई और वह इस तरह: "उच्च-शिक्षा-प्राप्त लोग धीरे धीरे आने लगे—पर अधिकतर यह कहते हुए कि 'मुझे तो हिन्दी आती नहीं।' इधर से जवाब मिलता था 'तो क्या हुआ? आ न जायगी। कुछ काम तो शुरू कीजिये।'" अंग्रेजों ने शिक्षित नौजवानों में किस तरह गुलाम-जहनियत पैदा की थी, यह उसकी अच्छी मिसाल है। बुद्धिजीवी वर्ग को अपनी भाषा सिखाना आसान काम नहीं था। बहुत से अंग्रेजी पढ़े हिन्दी सेवा के लिए बढ़ते थे, मानों उस पर उपकार करने के लिये, हिन्दी सीखने के लिये बिना जरूरी मेहनत किये हुए। इस पर शुक्लजी ने विनोद करते हुए लिखा है, "बहुत से लोगों ने हिन्दी आने के पहले ही काम शुरू कर दिया।" गलत-सही दो चार चीजें लिख लेने पर वे लेखक बन जाते थे। "फिर उन्हें हिन्दी न आने की परवा क्यों होने लगी?"

शुक्लजी ने जोर देकर लिखा है कि अंग्रेजी या संस्कृत या अरबी-फारसी जानने से हिन्दी की जानकारी नहीं हो जाती। हिन्दी का अपना जीवन है, अपनी विशेषताएं हैं। इन्हें सीखे-समझे बिना कोई हिन्दी

लेखक नहीं बन सकता। उन्होंने ऐसे लोगों को फटकारा है जो हिन्दी लेखक होने से अंग्रेजी, संस्कृत या अरबी फारसी का विद्वान् कहने-कहलाने में ज्यादा गौरव समझते थे। जो लोग भी हिन्दी का हित चाहते हैं और जिनमें जातीय सम्मान की भावना है, उन्हें शुक्लजी के ये वाक्य गाँठ बाँध लेना चाहिये। द्विवेदी युग की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने लिखा है :

"इस कालखंड के बीच हिन्दी लेखकों की तारीफ में प्रायः यही कहा-सुना जाता रहा कि ये संस्कृत बहुत अच्छी जानते हैं, वे अरबी-फारसी के पूरे विद्वान् हैं, ये अंग्रेजी के अच्छे पंडित हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी कि ये हिन्दी बहुत अच्छी जानते हैं। यह मालूम ही नहीं होता था कि हिन्दी भी कोई जानने की चीज है। परिणाम यह हुआ कि बहुत से हिन्दी के प्रौढ़ और अच्छे लेखक भी अपने लेखों में फारसीदानी, अँग्रेजीदानी, संस्कृतदानी आदि का कुछ प्रमाण देना जरूरी समझने लगे थे।"

यह परिस्थिति अब भी बहुत कुछ कायम है। और यह तब तक पूरी तरह दूर न होगी जब तक हिन्द-प्रदेश में उद्योगधन्धों का विकास न होगा, किसानों की हालत न सुधरेगी, जनता की निरक्षरता दूर न की जायगी और हिन्दीभाषी जनता अपना अलगाव दूर करके एक ही राज्य (या प्रान्त) में संगठित न होगी। जातीय चेतना और जातीय संस्कृति के विकास का बहुत गहरा संबन्ध इन सब बातों से है। सामाजिक जीवन में जब तक ये तमाम साधन न होंगे, तब तक हिन्दी अपनी पूरी शक्ति से उन्नति न कर सकेगी।

शुक्लजी ने बताया कि कोश के सहारे अंग्रेजी का उल्था करके हिन्दी नहीं लिखी जा सकती। ऐसे लोग "हिन्दी और संस्कृत के शब्द भर लिखते थे, हिन्दी भाषा नहीं लिखते थे।" इस रास्ते पर डा० नगेन्द्र, शिवदानसिंह चौहान, अज्ञेय, धर्मवीर भारती जैसे लेखकों ने अपनी आलोचना की भाषा में यह तरक्की की है कि उनके बहुत से शब्द न हिन्दी के होते हैं, न संस्कृत के। पहले अंग्रेजीदाँ लेखकों के वाक्य "अंग्रेजी भाषा की भावभंगी

से परिचित लोग ही समझ सकते थे" लेकिन इन विद्वानों के लिए यह भी नहीं कहा जा सकता। कारण यह कि इलियट आदि इनके बहुत से अंग्रेजी-अमरीकी धर्मगुरुओं की बात अंग्रेजी और अमरीकी भी नहीं समझ पाते !

शुक्लजी ने हर बात में योरप की नकल करने का विरोध किया है। उनके रूपों को लेकर रूपवान बनने के बदले "अपने स्वतन्त्र स्वरूप विकास" पर जोर दिया है। पच्छिम की चीजों का अध्ययन हम किस तरह करें, इसके बारे में उन्होंने लिखा है, "यदि हमें वर्त्तमान जगत् के बीच से अपना रास्ता निकालना है तो वहां के अनेक 'वादों' और प्रवृत्तियों तथा उन्हें उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का पूरा परिचय हमें होना चाहिये। उन वादों की चर्चा अच्छी तरह है, उन पर पूरा विचार हो और उनके भीतर जो थोड़ा-बहुत सत्य छिपा हो उसका ध्यान अपने साहित्य के विकास में रखा जाय।" दूसरों से सीखते हुए अपने जातीय स्वरूप के विकास का यही रास्ता है। न तो अहंकार के मद में अपने को ही सबकुछ समझना सही है, न अन्धे बन कर दूसरों की नकल करना सही है। अन्धे बन कर नकल करने को शुक्लजी ने ठीक ही अनाड़ीपन और जंगलीपन कहा है।

अँगरेजी का गलत असर भाषा पर पड़ा। व्याकरण की तरफ लापर्वाही के अलावा "अपनी भाषा की प्रकृति की पहचान न रहने के कारण कुछ लोग उसका स्वरूप भी बिगाड़ चले हैं। वे अंग्रेजी के शब्द, वाक्य और मुहावरे तक ज्यों-के-त्यो उठाकर रख देते हैं; यह नहीं देखने जाते कि भाषा हिन्दी हुई या और कुछ।" हिन्दी की अपनी प्रकृति है, उसको समझो, उसकी रक्षा करो, शुक्लजी ने बारबार यही सीख दी है।

अंग्रेजी का दूसरा गलत असर उपन्यासों की विषयवस्तु पर पड़ा। यहां लेखकों का एक ऐसा दल पैदा हुआ जो "देश के सामान्य भारतीय जीवन से हटकर बिलकुल योरपीय रहन-सहन के सांचे में ढले हुए एक बहुत छोटे से वर्ग का जीवन-चित्र ही यहां से वहां तक अंकित करते हैं।" शुक्लजी के बाद ऐसे लेखकों की संख्या कुछ बढ़ी ही है, घटी नहीं। पहले अगर योरपीय रहन सहन वाले एक छोटे वर्ग का चित्रण होता था—लेकिन होता था हिंदी

किया, अँग्रेजी के गलत रुझानों से बचते हुए उसकी प्रगति-शील धारा से सम्बन्ध जोड़ना सिखाया, भारत की दूसरी भाषाओं से नक्ल न करके उनकी उपयोगी विशेषताओं से सीखने का मार्ग दिखाया और सबसे बड़ा काम यह किया कि अँग्रेजी भाषा और संस्कृत के दबाव के आड़े आकर हिन्दी के जातीय सम्मान की रक्षा की और अपनी रचनाओं से उसे और भी समृद्ध किया।

तीसरी समस्या कविता, नाटक, उपन्यास आदि साहित्य के विभिन्न रूपों की है। इनमें शुक्लजी को सबसे प्रिय कविता थी। अपने इतिहास म उन्होंने अधिकतर कवियों का ही विवेचन किया है, तुलसी, जायसी, और सूर पर उनकी पुस्तकें और निबन्ध कवियों से ही सम्बन्धित हैं। उनके ज्यादातर सैद्धान्तिक विवेचन का आधार भी कविता है। किसी समय साहित्य शब्द काव्य का पर्यायवाची था। अब भी पूर्व और पश्चिम की बहुत सी आलोचना में काव्य को साहित्य और कला का पर्यायवाची मानकर विवेचन किया जाता है। कहीं-कहीं साहित्य को कथा साहित्य तक सीमित करके सिद्धान्त चर्चा करने का रुझान भी देखा जाता है। "कविता क्या है?" जैसे निबन्धों मे शुक्लजी ने कविता के बारे में जो बातें कहीं हैं, वे प्राय सब की सब साहित्य के दूसरे रूपों या अङ्गों पर भी लागू होती हैं।

कविता में भी शुक्लजी प्रबन्ध-काव्य को श्रेष्ठ समझते थे। जायसी की भूमिका में प्रबन्ध और मुक्तक की तुलना करते हुए शुक्लजी ने लिखा है, "यदि कोई इसके विचार का आग्रह करे कि प्रबन्ध मुक्तक इन दो क्षेत्रों म कौन अधिक महत्व का है, किस क्षेत्र में कवि की सहृदयता और भावुकता की पूरी परख हो सकती है, तो हम बार-बार वही बात कहेंगे जो गोस्वामी जी की आलोचना मे कह आये हैं अर्थात् प्रबन्ध के भीतर आई हुई मानव-जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं के साथ जो अपने हृदय का पूर्ण सामजस्य दिखा सके वही पूरा और सच्चा कवि है।"

शुक्लजी की धारणा यूनानी विचारक अरस्तू से मिलती जुलती है। अरस्तू के लिये काव्य मानव-कर्मों की छवि है। मानवकर्मों के चित्रण से काव्य में सहज नाटकीयता आ जाती है। यदि कविता केवल हृदय का उद्-

गारमात्र नहीं है वरन् मानव-जीवत का व्यापक दर्पण है तो उसमें घटनाओं, चरित्रों, स्थानों आदि का चित्रण और वर्णन अवश्य होगा। इस तरह की कविता मुक्तक भी हो तो वह नाटकीय होगी। सूर और मीरा के पदों में, तुलसी, रसखान, रहीम आदि के छदों में अधिकतर यही नाटकीयता पाई जाती है। इसके साथ ही सूर और तुलसी में आत्मोद्‌गार भी हैं, न केवल पदों में वरन् जगह-जगह रामचरितमानस जैसे प्रबन्ध-काव्य में भी। शुक्लजी ने प्रबन्ध-काव्य को श्रेष्ठ बताकर साहित्य के इस महत्वपूर्ण रूप की ओर हिन्दी साहित्यकारों का ध्यान ठीक ही आकर्षित किया है। अंग्रेजी की रोमांटिक कविता के प्रभाव से कविता को आत्मोद्‌गार मानने का चलन सा हो गया था। पूंजीवादी विचारधारा में व्यक्तिवाद को जो प्रमुखता दी जाती है—जिसका अर्थ व्यक्तित्व का विकास नहीं होता क्योंकि यह विकास भरे-पूरे सामाजिक जीवन पर निर्भर है—उसका असर भी इस आत्मोद्‌गार वाद पर रहा है। शुक्लजी ने साहित्य के लोक पक्ष पर जोर दिया है, उसका यह सहज परिणाम है। फिर भी हर मुक्तक लिखने वाला व्यक्तिवादी ही हो, यह जरूरी नहीं है। आत्मोद्‌गार का लोक पक्ष हो सकता है; स्वान्तः सुखाय और लोकहिताय में कोई अनिवार्य शत्रुता नहीं है।

साहित्य के अन्य रूपों को देखते हुए हिन्दी में नाटकों का विकास कम हुआ है। शुक्लजी ने हिन्दी नाटकों की कुछ विशेषताएँ बतलाई हैं। हिन्दी गद्य साहित्य के विकास में नाटकों का भी हाथ रहा है। भारतेन्दु ने हिन्दी नाटकों में पुरानी पद्धति बहुत कुछ कायम रखते हुए उसमें आवश्यक सुधार भी किये। हिन्दी में रंगमंच न होने से भारतेन्दु के बाद नाटकों का उचित विकास न हो सका। शुक्लजी यह जरूरी समझते थे कि नाटक अभिनय के योग्य हों।

बद्रीनारायण चौधरी के "भारत सौभाग्य" की आलोचना उन्होंने अभिनय को ध्यान में रखते हुए की है। "पात्र इतने अधिक और इतने प्रकार के हैं अभिनय दुस्साध्य ही समझिए।"

शुक्लजी ने विदूषकों के परम्परागत हास्य को कैसे कृत्रिम बतलाया था; यह हम पहले देख चुके हैं। इतिहास में गद्यसाहित्य की वर्तमान गति की

चर्चा करते हुए उन्होंने विदूषक-हास्य की तारीफ कर दी है। यहाँ वह हास्य और करुणा का विरोध दिखलाने और हास्य को आनन्दात्मक सिद्ध करने के फेर में अपने यथार्थवादी आसन से डिग गये हैं। उन्होंने यहाँ तक लिख दिया है, "दया या करुणा दु:खात्मक भाव है, हास आनन्दात्मक। दोनों की एक साथ स्थिति बात ही बात है।" मानव-जीवन में करुणा और आनन्द का ऐसा विरोध नहीं दिखाई देता और शेक्सपियर जैसे नाटककारों की रचनाओं से भी यही सिद्ध होता है कि घोर करुण नाटक में भी हास्य गौण रूप में रह सकता है। प्रसाद जी के नाटकों की आलोचना करते हुए शुक्ल जी ने विदूषक की वैज्ञानिकता की धारणा वापस लेते हुए ठीक लिखा है, "एक बात बहुत अच्छी यह हुई है कि पुराने नाटकों में दरबारी विदूषक नाम का जो फालतू पात्र रहा करता था, उसके स्थान पर कथा की गति से सम्बद्ध कोई पात्र ही हँसोड़ प्रकृति का बना दिया जाता है।" यहाँ वह अपनी प्रकृत यथार्थवादी भूमि पर हैं। नाटक-रचना को स्वाभाविक बनाने के लिये यह जरूरी है कि "फालतू पात्र" के बदले "कथा की गति से सम्बद्ध" कोई पात्र रहे।

नाटक का उद्देश्य क्या है? हमारे यहाँ नाटक को भी काव्य कहा जाता रहा है। नाटक और काव्य के रूपों में अन्तर क्या है? इन प्रश्नों का उत्तर शुक्लजी ने भारतीय साहित्य-शास्त्र का हवाला देकर नाटक का लक्ष्य बतलाते हुए दिया है, उसका लक्ष्य भी निर्दिष्ट शीलस्वभाव के पात्रों को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में डालकर उनके वचनों और चेष्टाओं द्वारा दर्शकों में रस-सचार कराना ही रहा है।" नाटक और काव्य, दोनों ही का उद्देश्य रस-सचार कराना है। पात्रों का भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में पड़ना नाटक और प्रबन्ध-काव्य दोनों ही की विशेषता है। लेकिन पात्रों के वचनों और चेष्टाओं द्वारा दर्शकों में रस-सचार करना नाटकों की अपनी विशेषता है। जैसे काव्य-चर्चा में, वैसे ही नाटक-चर्चा में शुक्लजी ने रससिद्धान्त को सूत्ररूप में ही लिया है, सस्कृत साहित्य में उसके विशेष विस्तार को स्वीकार नहीं किया। रीतिकाव्य की तरह नाटक लिखने के लिये भी लक्षण-ग्रन्थ रचे गये थे। वास्तव में काव्य से पहले नाटकों के बारे में ही लक्षणग्रन्थों की

रचना हुई थी । (नाटक को भी काव्य माना गया, वह दूसरी बात है) । संस्कृत नाटकों पर रीतिग्रन्थों के प्रभाव का यह फल हुआ था, पात्रों के धीरोदात्त आदि बँधे हुए ढाँचे थे जिनसे ढले हुये सब पात्र सामने आते थे । इन ढाँचों के बाहर शील-वैचित्र्य दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता था । बाण और दण्डी के गद्य के अलावा यह दूसरी जगह शुक्लजी ने संस्कृत साहित्य की रूढ़ि-विशेष का खण्डन किया है । साहित्य में उन्होंने कितनी दृढ़ता से रीतिग्रन्थों का विरोध किया है, उसी का यह एक और प्रमाण है । साथ ही यथार्थवाद के नाम पर नाटकों से काव्यत्व हटा दिया जाय, यह भी उन्हें सह्य नहीं है । योरप में नाटक को जो शुद्ध गद्यात्मक बताने की प्रवृत्ति रही थी, शुक्लजी उसे वांछनीय न समझते थे । नाटक में काव्यत्व की रक्षा भी हो और चरित्र-विधान भी यथार्थ हो, हिन्दी नाटकों के लिए उन्होंने यही मार्ग ठीक बतलाया है । "हमारे यहाँ के पुराने ढांचों के भीतर शील-वैचित्र्य का वैसा विकास नहीं हो सकता था, अतः उनका बंधन हटा कर वैचित्र्य के लिये मार्ग खोलना तो ठीक है, पर यह आवश्यक नहीं कि उसके साथ ही रसात्मकता भी हम निकाल दें ।

शुक्लजी के लिए काव्यत्व की रक्षा का अर्थ यह न था कि नाटक के पात्र गण काव्य ही में बातें करें और मौके-बेमौके गाना गाने लगें । प्रसाद जी में इस तरह के दोष दिखलाते हुए उन्होंने लिखा है कि भावुकता की अधिकता से कथोपकथन कई स्थलों पर नाटकीय न होकर वर्तमान गद्य-काव्य के खण्ड हो गये हैं । "बीच-बीच में जो गान रखे गये हैं वे न तो प्रकरण के अनुकूल हैं, न प्राचीन काल की भाव-पद्धति के ।"

नाटक की कथावस्तु में समय के अतिशय विस्तार को भी उन्होंने अनुचित माना है । बीस-पच्चीस साल की अवधि नाटकों में न होनी चाहिये । जो पात्र युवक के रूप में नाटक के आरम्भ में दिखाई पड़ें, वे नाटक के अन्त में भी उसी रूप में सामने आते हैं । इससे दर्शक यह शङ्का कर सकता है कि पच्चीस साल में ये क्या वैसे ही बने हुए हैं ?

शुक्लजी ने कथावस्तु के गठन के सिलसिले में एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही है । "बहुत से भिन्न-भिन्न पात्रों से सम्बद्ध घटनाओं के जुड़ते

चलने का कारण बहुत कम चरित्रों के विकास का अवकाश रह गया है।" यह एक ऐसा दोष है जो नाटक के अलावा हिन्दी और अन्य भाषाओं के भी बहुत से उपन्यासों में पाया जाता है। चरित्रों के विकास का अवकाश होना चाहिये, वर्ना वे चरित्र पाठकों को याद नहीं रहते, उनके अविकसित रहने से उपन्यास अधूरा लगता है, पाठक को तृप्ति नहीं होती, वह लेखक की जल्दबाजी को कोसता है। इसीलिए वर्तमान नाटककारों और उपन्यास लेखकों के लिये शुक्लजी का सूत्र इतना महत्वपूर्ण है।

शुक्लजी ने एक ओर जहाँ नाटक-रचना के पुराने बन्धन ढीले करके उसमें शील-वैचित्र्य लाने पर जोर दिया है, वहाँ नाटक का रूप विकृत न हो, नाटक नाटक ही रहे, यह भी जरूरी समझा है। पन्तजी की "ज्योत्स्ना "शैली के ढँग पर "लिखी गई है। लेकिन शैली में जहाँ "आधिदैविक शासन से मुक्ति और जगत के स्वातन्त्र्य का एक समन्वित प्रसङ्ग" है, वहा पन्त जी में "बहुत दूर तक केवल सौन्दर्य-चयन करने वाली कल्पना मनुष्य के सुख-विलास की भावना के अनुकूल" सामग्री जुटाती है। पंतजी का यह मूल सौन्दर्यवादी—लोक-विमुख कलावादी—रूप है जिसका जिक्र शुक्लजी ने उनकी कविता के सिलसिले में भी किया था। "उसके उपरान्त आजकल की हवा में उड़ती हुई कुछ लोक-समस्याओं पर कथोपकथन हैं।" हवा में उड़ती हुई—पंतजी के लोकवाद का उथलापन सूचित करने के लिये शुक्लजी की यह मार्मिक उक्ति है। वे लोक-समस्याएं पंतजी के लिये कितनी हवाई थीं, यह अब पूरी तरह साबित हो गया है। पंतजी के सौन्दर्यवाद और हवाई लोकवाद के मेल से नाटक नहीं रचा जा सकता। "ज्योत्स्ना" के लिये शुक्लजी कहते हैं, "सब मिला कर क्या है, यह नहीं कहा जा सकता।"

रूढिवादियों और नैतिकतावादियों की तरह शुक्लजी ने उपन्यास को आलसियों का व्यसन और चरित्र बिगाड़ने का साधन नहीं समझा। वह उपन्यास को एक बहुत बड़ी शक्ति मानते थे, उसे समाज-सुधार का प्रबल अस्त्र समझते थे। साथ ही उन्होंने उपन्यास की वह विशेषता भी परख ली थी जो उसे साहित्य के अन्य अङ्गों से अलग करती है। नाटक उपन्यास आदि निर्माण-कला में एक दूसरे से भिन्न हैं, यह तो सभी जानते हैं और

इस पर बहुत कुछ लिखा गया है लेकिन ये रूप मानव-जीवन को किस तरह प्रतिबिम्बित करते हैं, यह प्रतिबिम्ब सभी रूपों में एकसा नहीं रह सकता, न रहता है, इसकी ओर बहुत कम लोगों का ध्यान गया है। शुक्लजी ने अपने इतिहास में लिखा है, "वर्तमान जगत में उपन्यासों की बड़ी शक्ति है। समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न करते हैं।" उपन्यास की विशेषता है, विस्तृत प्रत्यक्षीकरण। उपन्यास में जितने विस्तार से समाज की गतिविधि का चित्रण किया जा सकता है, उतने विस्तार से न तो कविता में संभव है, न नाटक में। यही कारण है कि साहित्य मे यथार्थवाद के विकास के साथ-साथ उपन्यास भी उसका मुख्य रूप बन गया है। यह एक सूत्र हुआ। दूसरा सूत्र यह है कि उपन्यासकार का कर्तव्य है कि व्यक्तिवाद के दायरे में चक्कर न लगा कर "भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तिया उत्पन्न हो रही हैं" उनका चित्रण करे। ऐसा करने पर उपन्यास में विस्तृत प्रत्यक्षीकरण असंभव है। वर्गों का उल्लेख आकस्मिक नहीं है। कथावस्तु और उद्देश्य के अनुसार उपन्यासों का विभाजन करते हुए उन्होंने एक क़िस्म यह बतलाई है, "समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों की परस्पर स्थिति और उनके संस्कार चित्रित करने वाले, जैसे प्रेमचन्द जी का 'रंगभूमि' प्रसाद जी का 'कंकाल' 'तितली'।" प्रेमचन्द और प्रसाद के उपन्यासों में शुद्ध मानव-चित्रण के बदले वर्गों की परस्पर स्थिति पर विचार करना शुक्लजी की आलोचना-पद्धति के खिलाफ नहीं है, उसके अनुकूल है। जिन लोगों को वर्ग शब्द ही से मार्क्सवाद और रूस की गंध आने लगती है; वे शुक्लजी के वाक्य पर गंभीरता से विचार करें। उनके वाक्य में संस्कार शब्द भी बड़े मार्के का है। संस्कारों के चित्रण के बिना वर्गों और उनके प्रतिनिधियों की संस्कृति समझ में नही आ सकती; उपन्यास गहराई से सामाजिक जीवन का चित्र नहीं दे सकता।

शुक्लजी का आग्रह था कि उपन्यासकार अपना ध्यान सर्वसामान्य जीवन पर केन्द्रित करें। थोड़े से लोगों के विशेष प्रकार के जीवन का चित्र देकर कोई बड़ा उपन्यासकार नहीं बन सकता। "देश के असली सामाजिक

और घरेलू जीवन को दृष्टि से ओझल करना हम अच्छा नहीं समझते"। इस कसौटी पर उन्होंने प्रेमचन्द के यथार्थ चित्रण की तारीफ की है, इसी कसौटी पर बगला से अनुवादित उन उपन्यासों की तारीफ की है जिनमें "देश के सर्वसामान्य जीवन के बड़े मार्मिक चित्र रहते थे।" भारतीय उपन्यासों की यह प्रगतिशील और मौलिक प्रवृत्ति है। इसके विरुद्ध मुट्ठी भर साधन-सम्पन्न व्यक्तियों की विकृत कामवासनाओं का चित्रण करने वाले उपन्यास कभी भी भारतीय साहित्य का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते।

शुक्लजी ने ऐतिहासिक उपन्यासों को रोमांटिक कल्पना का खेल नहीं माना, वे अतीत को गलत-सही ढग से रग चुन कर पेश करने का साधन न बनने चाहियें। जिस युग का भी चित्रण करना है, लेखक को उसकी सामाजिक स्थिति और सस्कृति का ज्ञान जरूर होना चाहिये। उन्होंने लिखा है, "जब तक भारतीय इतिहास से भिन्न भिन्न कालों की सामाजिक स्थिति और सस्कृति का अलग अलग विशेष रूप से अध्ययन करने वाले और उस सामाजिक स्थिति के सूक्ष्म ब्यौरों की अपनी ऐतिहासिक कल्पना द्वारा उद्भावना करने वाले लेखक तैयार न हों तब तक ऐतिहासिक उपन्यासों में हाथ लगाना ठीक नहीं।" भिन्न भिन्न कालों की सामाजिक स्थिति, अलग-अलग विशेष रूप से अध्ययन, सूक्ष्म ब्यौरों की उद्भावना—शुक्लजी ऐतिहासिक उपन्यास लिखना बहुत ही जिम्मेदारी का काम समझते थे। यहाँ भी उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रधान है, ऐतिहासिक उपन्यासों का मूल उद्देश्य सामाजिक स्थिति और सस्कृति का चित्रण है। कल्पना इस काम में सहायक होती है लेकिन सबसे पहले जरूरी है किसी भी युग का विशेष अध्ययन। इस कसौटी पर श्री वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों को परखते हुए शुक्लजी ने लिखा है, "उन्होंने भारतीय इतिहास के मध्ययुग के प्रारभ में बुन्देलखड की स्थिति लेकर 'गढ़ कुंढार' विराटा की पद्मनी' नामक दो बड़े सुन्दर उपन्यास लिखे हैं। विराटा की पद्मिनी की कल्पना तो अत्यन्त रमणीय है, यहाँ शुक्लजी ने वर्मा जी की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है, मध्ययुग का ज्ञान, बुन्देलखड को स्थिति का विशेष ज्ञान और रमणीय कल्पना। वर्मा जी के उपन्यासों की सजीवता का कारण बुन्देलखन्ड के

जनजीवन और इतिहास की जानकारी और उससे प्रेम है, इसमें सन्देह नहीं। प्रेमचन्द के साथ वह युग के श्रेष्ठ भारतीय साहित्यकारों में से हैं।

शुक्लजी ने उपन्यासों के मुकाबले में कहानियों के विकास को "और भी विशद और विस्तृत" बतलाया है, इस विकास में "कवियों का भी पूरा योग रहा है", यह विशेषता बतलाई है। पच्छिमी कहानी शास्त्र के आधार पर हिन्दी कहानियों की छानबीन करने वालों को सावधान करते हुए उन्होंने लिखा है, -'उनके रूप-रंग हमारे सामने आए हैं कि वे सब अब पाश्चात्य लक्षणों और आदर्शों के भीतर नहीं समा सकते।"

उपन्यासों की तरह शुक्लजी निबन्धों को भी साहित्य का बहुत ही महत्वपूर्ण अङ्ग मानते थे। "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक संभव होता है।" कारण यह कि उपन्यास या कहानी की तरह लेखक पर कथावस्तु आदि का प्रतिबन्ध नहीं रहता। अंग्रेजी में जो लेखक अपने गद्य के लिये प्रसिद्ध हैं, वे प्रायः निबन्धकार हैं। अंग्रेजी गद्य को बहुत कुछ व्यवस्थित करने वाले ऐडीसन और स्टील निबन्ध-लेखक ही थे। इसी विचार से उन्होंने प्रतापनारोयण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट के लिये लिखा है कि इन्होंने "हिन्दी गद्य-साहित्य में वही काम किया है जो अंग्रेजी गद्य-साहित्य में ऐडीसन और स्टील ने किया था।" पच्छिम के व्यक्तिगत विशेषता वाले निबन्धों को कुछ शर्तों के साथ उन्होंने ग्राह्य माना है। व्यक्तिगत विशेषता का यह अर्थ न होना चाहिये कि "विचारों की शृङ्खला खो ही न जाय" या "लोकसामान्य स्वरूप सेकोई सम्बन्ध ही न रखे।" निबन्ध लेखक को—वैज्ञानिक के विपरीत—अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से" विचरने की सुविधा होनी चाहिये लेकिन कहने के लिये उसके पास कुछ महत्व की बात भी होनी चाहिये। जहाँ गतिशील अर्थ की परंपरा नहीं, वहाँ निबन्ध अपना साहित्यिक रूप खोकर सिर्फ एक तमाशा बन जायगा। शुक्लजी ने भारतेन्दु युग में निजन्धों के विकास का उल्लेख करते हुए बाद को अच्छे निबन्ध न लिखे जाने पर खेद प्रकट किया है। हिन्दी में यदि कुछ अपनी विशेषताएँ लिये हुए निबन्ध-रचना का कार्य आगे बढ़ाना है,

तो भारतेन्दु जी के निबन्ध साहित्य का अध्ययन करके उस परंपरा का उद्धार करना जरूरी होगा।

साहित्य के रूपों के सिलसिले में आखिरी बात आलोचना के बारे में करनी है। शुक्लजी स्वयं आलोचक थे, इसलिये इस विषय पर उन्होंने विस्तार से विचार किया है। यहाँ उन्होंने रूढ़िवाद का बहुत ही स्पष्ट और तीव्र खण्डन किया है। बालकृष्ण भट्ट आदि लेखकों को उन्होंने नयी आलोचना का जन्मदाता कहा है। शुक्लजी से पहले यह नयी आलोचना बहुत ही अविकसित दशा में थी ' जो आलोचना फली-फूली थी, वह रीतिकालीन परम्परा का ही विस्तार थी। शुक्लजी ने इस निर्जीव परम्परा के खण्डन की ओर विशेष ध्यान दिया। इसकी थोड़ी सी चर्चा रीतिकाव्य वाले अध्याय में हो चुकी है। संस्कृत साहित्यालोचन की सीमाएँ बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि इसका उद्देश्य लक्षण ग्रन्थों के अनुसार गुण-दोष-विवेचन होता था। एक आचार्य दूसरे का खण्डन करना चाहता था तो उसके प्रशंसित पदों को दोष दिखाने के लिये उद्धृत करता था और जिन्हें खुद अच्छा समझता था उन्हें रस, अलङ्कार आदि का उदाहरण बनाता था। "साहित्य-दर्पणकार ने शृङ्गार रस के उदाहरण में 'शून्य वासगृह विलोक्य' यह श्लोक उद्धृत किया, रस-गंगाधर-कार ने इस श्लोक में अनेक दोष दिखलाए और उदाहरण में अपना बनाया श्लोक भिड़ाया।" संस्कृत-आलोचना में जहाँ इस तरह की रूढ़ियाँ हैं, वहाँ उनसे बाहर विशद सैद्धान्तिक चर्चा और अनेक कवियों की प्रतिभा की मार्मिक व्याख्या भी है। इस सिलसिले में अभिनवगुप्त, मम्मट और मल्लिनाथ का नाम लेना काफी होगा।

हिन्दी रूढ़िवादी आलोचनाके बारे में उनका यह मत ज्यादा सही है कि "मिश्रबंधुओं और पंडित पद्मसिंह शर्मा ने अपने ढंग पर कुछ पुराने कवियों के सम्बन्ध में विचार प्रकट किए। पर यह सब आलोचना अधिकतर बहिरङ्ग बातों तक ही रही। भाषा के गुण दोष, रस- अलंकार आदि की समीचीनता, इन्हीं सब परम्परा विषयों तक पहुँची।" इस तरह की आलोचना कवि-प्रतिभा की मार्मिक व्याख्या करने में असमर्थ थी। पण्डितों में प्रचलित पुराने ढंग की आलोचना की मिसाल उन्होंने

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से दी है। संस्कृत कवियों पर उनकी रचनाओं के बारे में लिखा है, "इनमें कुछ तो पंडित-मण्डली में प्रचलित रूढ़ि के अनुसार चुने हुए श्लोकों की खूबियों पर साधुवाद हैं (जैसे, क्या उत्तम उत्प्रेक्षा है!) और कुछ भिन्न विद्वानों के मतों का संग्रह।" एक मोहल्ले की बात दूसरे मोहल्ले वालों को मालूम हो गई, इस तरह की आलोचना का इतना ही मूल्य शुक्लजी ने स्वीकार किया है।

मिश्रबंधुओं के "हिन्दी नवरत्न" को एक ही वाक्य-बाण से वेधते हुए उन्होंने लिखा है कि इसमें "सबसे बढ़कर नई बात यह थी कि 'देव' हिंदी के सबसे बड़े कवि हैं।" देव-बिहारी विवाद नयी आलोचना के विकास के लिये कितना निरर्थक था, यह शुक्लजी ने विस्तार से दिखाया है। इसका कारण यह है कि इस विवाद से साहित्य की उन मूल समस्याओं का समाधान न होता था, वरन् उनसे ध्यान हट जाता था, जो नये हिंदी साहित्य के विकास के सिलसिले में उठ रही थीं। हिन्दी आलोचना का मौलिक कर्तव्य यह था—और शुक्लजी ने उसे पूरा किया—रीतिशास्त्र के बदले यथार्थवाद के अनुकूल नये साहित्य-सिद्धांतों की प्रतिष्ठा, रूढ़िवादी साहित्य का विरोध और नये राष्ट्रीय और जनवादी साहित्य का समर्थन। इस कर्तव्य को ध्यान में रखते हुए ही शुक्लजी ने दूसरे आलोचकों की नुक्ताचीनी की थी। पद्मसिंह-शर्मा की अनूठी शैली, विद्वत्ता आदि की प्रशंसा करने के बाद उन्होंने लिखा है, शर्माजी की यह समीक्षा भी रूढ़िगत (Conventional) है।" वह दूसरे शृङ्गारी कवियों से भिन्न बिहारी की विशेषताएं नहीं दिखा पायी, उनकी "अन्तः प्रवृत्तियों के उद्घाटन" का प्रयत्न नहीं कर पायी और इसमें सबसे बड़ा दोष था, "बिना जरूरत के जगह जगह चुहलबाजी और शाबाशी का महफिली तर्ज।"

पुरानी रूढ़ियों के साथ कुछ नयी रूढ़ियों का भी जन्म हो रहा था। आलोचना में संगत तर्क-पद्धति की जगह गद्य-काव्य रचने की प्रवृत्ति भी बढ़ रही थी। "कविता देवलोक के मधुर संगीत की गूंज है," इस तरह के वाक्यों का मजाक उड़ाते हुए शुक्लजी ने "घोर विचार-शैथिल्य और बुद्धि

का आलस्य फैलने" के खतरे से हिन्दी लेखकों को सावधान किया है।

शुक्लजी ने आलोचना के रूप पर, विचार करते हुए अलंकार और रस-निरूपण वाली पद्धति की सीमाएं बतलाईं, साहित्य की मार्मिक व्याख्या करने पर जोर दिया दिया, आलोचना को गद्य काव्य बनने से बचा कर उसे तर्क-योजना के सहारे आगे बढ़ने का मार्ग दिखाया। "भावुकता की सजावट और आलोच्य विषय के चारो ओर "चमचमाता वाग्जाल" बिछाने वालों की संख्या कम नहीं हुई, कुछ बढ़ी है। इसलिये शुक्लजी की सीख पर बराबर ध्यान देना अब भी आवश्यक है।



निबन्ध रचना, शैली और व्यक्तित्व

"चिन्तामणि" में शुक्लजी के दस निबन्ध ऐसे हैं जिनका संबन्ध मुख्यतः मनोविज्ञान से है। ये निबन्ध शुक्लजी के साहित्यालोचन का मनोवैज्ञानिक आधार स्पष्ट करते हैं। हम पहले देख चुके हैं कि शुक्लजी की आलोचना-पद्धति न तो रीतिशास्त्रों का अनुसरण करती है, न पच्छिम के काव्यशास्त्र का। इसलिये मनोविज्ञान के बारे में उनकी स्थापनाएं और भी दिलचस्प हो जाती हैं। इनमें न तो शुक्लजी ने रीतिशास्त्र के भाव-विवेचन को अपना आधार बनाया है, न पच्छिम के मनोविज्ञान को। उनकी स्थापनाएँ मौलिक हैं और न केवल साहित्य-शास्त्र को, वरन् मनोविज्ञान और समाजशास्त्र को भी महत्वपूर्ण देन हैं।

पच्छिम के मनोविज्ञान की मूल प्रवृत्ति व्यक्तिवाद को लेकर चली है। उनका मुख्य रुझान व्यक्ति को समाज से, उसके वर्ग से अलग करके उसके मनोविकारों का अध्ययन करना रहा है। मनोविज्ञान की कुछ धाराएँ जड़ भौतिकवाद को लेकर चली हैं। वैज्ञानिक भौतिकवाद के विपरीत ये धाराएं

की उमग का नाम उत्साह है। कर्म सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।" यहा भी उत्साह का सम्बन्ध मनुष्य के व्यवहार से है । इसी तरह श्रद्धा वह आनन्द-पद्धति है जो "किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण या शक्ति का विकास देख" कर पैदा होती है। यहा भी उसका वस्तुगत कारण मौजूद है। करुणा का तो कहना ही क्या? "जब बच्चे को सबन्ध-ज्ञान कुछ-कुछ होने लगता है तभी दु ख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं।" यह सम्बन्धज्ञान न हो, बाह्यजगत् का बोध न हो तो करुणा का भी अस्तित्व न हो। व्यक्तिगत दुख की अनुभूति से करुणा को अलग करते हुए शुक्लजी ने लिखा है, "पर दूसरा की पीड़ा, वेदना देख जो 'करुणा' जगती है, उसकी अनुभूति सच्ची रसानुभूति कही जा सकती है।" (रसात्मक बोध के विविध रूप)। करुणा लोकजीवन से विमुख एकान्तवासी कवियों की आत्मानुभूति नहीं है, वह दूसरों की पीड़ा देखकर जगती है, उसके सचार के लिये दूसरों का अस्तित्व भी जरूरी है।

मनुष्य के हृदय म लज्जा क्यो पैदा होती है? जब उसे यह आशका होती है कि "दूसरों के चित्त में" उसके प्रति बुरी धारणा है, तब उसकी वृत्तियों का सकोच होता है और वही लज्जा है। इस तरह लज्जा का जन्म भी लोक-व्यवहार में होता है। लोभ कब पैदा होता है? जब किसी सुख देने वाली "वस्तु के सबन्ध में" प्राप्ति की इच्छा पैदा होती है। "अरुचि-कर विषयों के उपस्थित होने पर" घृणा पैदा होती है। "किसी आती हुई आपदा की भावना या दु ख के कारण के साक्षात्कार से" भय पैदा होता है। "दु ख के चेतन कारण या अनुमान से" क्रोध पैदा होता है। साराश यह कि हर मनोविकार का कोई न कोई वस्तुगत कारण होता है। काव्य का सबन्ध मनोविकारो से है और मनोविकारों का सम्बन्ध मनुष्य के व्य-वहार-जगत् से। इसलिये व्यवहार-जगत् का ज्ञान प्राप्त किये बिना, उससे भावात्मक सम्बन्ध स्थापित किये बिना कोई भी शुद्ध आत्मानुभूति के बल पर कवि नहीं बन सकता। शुक्लजी के साहित्यालोचन का यह वस्तुवादी सूत्र है, "शब्द-काव्य की सिद्धि के लिये वस्तु-काव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है।"

भावों के वस्तुगत कारण हैं। उनका आधार मनुष्य का व्यवहार जगत् है लेकिन वे उत्पन्न होते हैं मनुष्य में ही। भाव-धारणा की यह क्षमता मनुष्य के ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। शुक्लजी ने कई जगह पशुओं और मनुष्यों में भेद करते हुए मानव के विकास के साथ उसका ज्ञान-प्रसार और भाव-प्रसार बढ़ता हुआ दिखाया है। "कविता क्या है" नाम के निबन्ध में उन्होंने लिखा है, "पर मनुष्य में ज्ञान-प्रसार के साथ भाव-प्रसार भी क्रमशः बढ़ता गया है, अकस्मात् मनुष्य इस भावप्रसार के साथ पैदा नहीं हो गया। मनुष्य अपने विकासक्रम में कुछ संस्कार पूर्वजों से पाता है, कुछ अपने नये अनुभवों से संचित भी करता जाता है। ऐसा न हो तो उसके कुछ आदिम संस्कार ही बने रहें, उनसे वह आगे न बढ़े। "काव्य में प्राकृतिक दृश्य" नाम के निबन्ध में शुक्लजी ने लिखा है, "पूर्वजनों की दीर्घ परम्परा द्वारा चली आती हुई जन्मगत वासना के अतिरिक्त जीवन में भी बहुत से संस्कार प्राप्त किये जाते हैं।" मनुष्य को आज जो भावनाशक्ति मिली है, वह एक दीर्घ परम्परा का फल है और अपने नये संस्कार जोड़कर मनुष्य उसे आगे भी बढ़ाता चलता है। मनुष्य की वासना, सहृदयता, उसकी रस-ग्राहिका शक्ति के विकास का यह वैज्ञानिक सिद्धांत है। शुक्लजी ने संस्कृत के रस-शास्त्रियों की वासना को स्थिर और शाश्वत न मानकर उसे एक ऐतिहासिक विकास का परिणाम स्वीकार किया है। इस तरह भावों में बाह्य जगत् के अलावा मनुष्य की जिस आत्मगत चेतना, इच्छा आदि का योग रहता है, उसकी भी एक वस्तुगत सत्ता है, वह भी ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। विषय-वस्तु के विचार से भी और मनुष्य की अपनी इच्छा के विचार से भी भाव की वस्तुगत सत्ता सिद्ध होती है, इसलिये भावों को प्रकट करने वाली कविता भी एक वस्तुगत व्यापार है जिसका वैज्ञानिक अध्ययन संभव है।

भाव का सम्बन्ध किसी शाश्वत आत्मा से नहीं है, इसी कारण विभिन्न मनुष्यों और वर्गों में रुचि की भिन्नता दिखाई देती है। रुचि की समानता का आधार मानव-जीवन की समानता है। मानव-जीवन की विषमता से रुचि की विषमता भी पैदा होती है। "भाव या मनोविकार" में

शुक्लजी शासकवर्ग का जिक्र करते हैं जो भावों का उपयोग "अपनी रक्षा और स्वार्थसिद्धि के लिये भी" करते आये हैं, "उसी प्रकार धर्म-प्रवर्तक और आचार्य अपने स्वरूप-वैचित्र्य की रक्षा और अपने प्रभाव की प्रतिष्ठा के लिए भी।" इसलिये जन-साधारण का भाव-व्यापार वही नहीं है जो शासकों और धर्माचार्यों का होता है। रुचि का वर्ग-आधार, वर्गों द्वारा भावों का उपयोग शुक्लजी के इन दो वाक्यों में बहुत अच्छी तरह प्रकट हुआ है। "शासकगण अपने अन्याय और अत्याचार के विरोध की शांति के लिये भी डराते और ललचाते आए हैं। मत-प्रवर्तक अपने द्वेष और सकुचित विचारों के प्रचार के लिए भी जनता को कँपाते और लपकाते आए हैं।" यह द्वेष और सकुचित विचार कहाँ से पैदा होते हैं? मत-प्रवर्तकों और शासकों के स्वार्थमय जीवन से। उनका जीवन जनसाधारण से भिन्न है। एक अत्याचार और अन्याय करने वाला है, दूसरा सहनेवाला है। इसी विषमता के कारण उनकी रुचि में भी विषमता होती है। इसलिये "कविता क्या है" में "अर्थागम से हृष्ट" ज्योतिषियों, कर्मकाण्डियों, वनियों और दलालों, अमलों और मुख्तारों को कवि और साहित्यकार निठल्ले और गपतुलहवास लगते हैं, इस रुचि भेद का कारण सामाजिक जीवन की असमानता है। यह असमानता अखंड और निरपेक्ष नहीं होती, असमानता के साथ बहुत सी समानता भी कायम रहती है। यही कारण है कि बहुत सी बातों में रुचि की असमानता के साथ कुछ बातों में रुचि की समानता भी मिलती है। उसी निबन्ध में शुक्लजी ने कविता पर अत्याचार की बात कही है, लोभियों और स्वार्थियों द्वारा उसके गला दबाये जाने की बात कही है, केशव आदि के विवेचन में राजदरबारों के कुसंस्कारों का उल्लेख किया है—यह सब सिद्ध करता है कि मनुष्य की रुचि का आधार उसके जीवन की परिस्थितियां हैं। रुचि के वर्ग-आधार का यह अर्थ नहीं होता कि मनुष्य की अपनी इच्छा-शक्ति की कोई भूमिका नहीं होती। इच्छाशक्ति परिस्थितियों से प्रभावित होती है लेकिन जिनका मनोबल दृढ़ होता है, वे अपने वर्ग की परिस्थितियों से ऊपर भी उठ सकते हैं और उठ जाते हैं।

रूचि और भावना का आधार पहचानने के कारण शुक्लजी ने सामन्ती संस्कारों और सामन्ती साहित्यशास्त्र का बार बार खंडन किया है। भावना और नैतिकता का गहरा संबन्ध है। मनुष्य के कर्मों की नियामक शक्ति बुद्धि से ज्यादा उसके भाव, उसके संस्कार होते हैं। शुक्लजी ने सामन्ती और पूँजीवादी हँगों की रूचि और नैतिकता का तीव्र खंडन किया है। "गेरुआ वस्त्र लपेटे धर्म का डंका" पीटने वाले, देश-हितैषिता का लंबा चोगा पहने" देशोद्धार की पुकार करने वाले उन्हें धोखा नहीं दे सकते। (श्रद्धा-भक्ति)। दूसरों की श्रद्धा के लिये ललकने वाले धूर्तों को उन्होंने कड़ी फटकार बतलाई है। इनके लिये श्रद्धा ठगविद्या का ही दूसरा नाम है। दूसरों के कर्मों के लिये सच्ची सम्मान भावना से उसका कोई सम्बन्ध नहो है। शुक्लजी ऐसे ठगों पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं, "परश्रद्धाकर्षण की विद्या की भी आजकल खूब उन्नति हुई है। आश्चर्य नहीं कि इसके लिए कुछ दिनों में एक अलग विद्यालय खुले।" यह व्यापार-युग है। यहाँ हर चीज़ बिकती है, "तब श्रद्धा ऐसे भाव क्यों न बिकें?" पूंजीवादी वर्ग बिकाऊ माल के सहारे जीता है। यह उसका वर्गधर्म है, उसकी वर्ग-नैतिकता है। इसलिये वह श्रद्धा को भी बिकाऊ माल बना डालता है। और व्यापार-युग से पहले दान-दक्षिणा का युग था। पंडों और पुरोहितों की संस्कृति यह है कि श्रद्धा का अर्थ दक्षिणा हो गया है। यजमान कहता है, इतनी ही श्रद्धा है और पंडे कहते हैं, जितनी श्रद्धा हो, उतना दो, यद्यपि इन पन्डों और पुरोहितों के संबन्ध में सदा यह निश्चय नहीं रहता कि वे बड़े विद्वान् बड़े धार्मिक या बड़े परोपकारी हैं।" (उप०) धर्म के नाम पर श्रद्धा का व्यापार यहाँ भी होता है।

लोक-दिखावे के लिये धनी व्यक्ति सदाचार का ढोंग रचते हैं, दूसरों पर दया का अभिनय करते हैं! लेकिन वे भूल जाते हैं कि "मनोवेग-वर्जित सदाचार दंभ या झूठी कवायद है।" (करुणा) इसी तरह निःसंकोच होकर अपने संकोची होने का दावा करने वालों को शुक्लजी ढोंगी कहते हैं। हमारे यहाँ के समाज में ऊँचनीच का भेद रहा है। जो आदर और सम्मान के योग्य हैं, वे आदर पाये लेकिन जनता को दबाकर जब आदर पाने का एक

कौनसा भाव अच्छा है, कौनसा बुरा, भिन्न-भिन्न वर्गों में एक ही भाव के कौन-कौन से रूप होते हैं (वास्तव में भाव-विशेष का नाम एक होता है, उसका तत्व अलग अलग होता है) ये समस्याएं शुक्लजी ने उठाई हैं, रिचाड्र्स ने नहीं। भाव अच्छा है या बुरा, इसकी कसौटी यह है "किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम से होता है।" (उत्साह)। रिचार्ड्स ने मानव-वृत्तियों के परिणाम का सवाल नहीं उठाया, इसीलिये उसका 'अलावा' का खंडन संगत नहीं है।

उत्साह क्या है? "कर्ममात्र के संपादन में जो तत्परतापूर्ण आनन्द देखा जाता है", वही उत्साह है। कर्म के साथ फल की इच्छा भी होती है और यह इच्छा अनुचित नहीं है यदि फल का सम्बन्ध शुद्ध स्वार्थ न हो। देश-रक्षा में भी साहस देखा जाता है, परपीड़न और डकैती में भी। दूसरी तरह का साहस पहले के सौंदर्य तक "कभी नहीं पहुँच सकता।" (उत्साह)। परिणाम के अनुसार यह भाव का सौन्दर्य-निरूपण हुआ।

श्रद्धा से क्या सिद्ध होता है? यही कि "जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है उनका होना संसार को वाञ्छित होता है।" इस तरह लोकहित भावों का शुभ या अशुभ रूप परखने की कसौटी बनता है। इसी लोकहित के कारण श्रद्धालु की दृष्टि "सामान्य की ओर होनी चाहिये विशेष की ओर नहीं।" अन्ध श्रद्धा क्यों खराब है? इसलिये कि उससे समाज का अनिष्ट होता है। अन्ध श्रद्धा के ही कारण धर्म और देशहितैषिता के नाम पर लोग ठगे जाते हैं।

क्रोध के त्याग का उपदेश बहुत से महात्माओं ने दिया है लेकिन समाजरक्षा के लिए क्रोध आवश्यक हो, तो उसका पूर्ण त्याग हानिकर होगा। किसी स्त्री पर अत्याचार होते देखकर हम क्रोध करें तो "उस समय का हमारा क्रोध कितना सुन्दर और अक्रोध कितना गर्हित होगा।" इसी तरह करुणा की आवश्यकता "जीवन-निर्वाह की सुगमता के लिये है। मनुष्य बनने के लिये शील और संकोच की जरूरत होती है। लेकिन लज्जा को स्त्रियों का भूषण कहकर पुरुषों ने उसे "आनन्द और विलास की एक सामग्री"

बना डाला'। लोभ का एक रूप प्रेम होता है जिसका उत्कृष्ट रूप देशप्रेम है। इसके विरुद्ध पैसे का लोभ है जिससे लोभ का मतलब ही पैसे का लोभ होगया है। घृणा और क्रोध का नजदीकी संबन्ध है और जैसे जीवन में क्रोध आवश्यक है, वैसे ही घृणा भी। भय की स्थायी वृत्ति कायरता कहलाती है। असभ्य, पिछड़ी हुई और जङ्गली जातियों में भय की मात्रा ज्यादा होती है। जैसे-जैसे प्रकृति के बारे में मनुष्य का ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसका भय कम होता जाता हैं। ईर्ष्या एक ऐसा भाव है जो समाज की कृत्रिमता से पैदा होता है और जिसे कोई भी प्रकट नही करना चाहता।

इस तरह शुक्लजी ने हर मनोविकार का सामाजिक आधार बतलाया है, उसका संबन्ध मनुष्य के व्यवहार से जोड़ा है, उसके सामाजिक परिणाम के हिसाव से उसे शुभ या अशुभ माना है। इससे सिद्ध हुआ कि शुक्लजी के मनोविज्ञान का एक ठोस सामाजिक आधार है।

जीवन् में भावों की महत्वपूर्ण भूमिका है। "समस्त मानव-जीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं।" (भाव या मनोविकार)। भावों का संबंध मनुष्य के कर्मों से है। जैसे उसके भाव और संस्कार होते हैं, वैसे ही उसके कर्म होते हैं। "मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में, भावों की तत्परता में है।" (करुणा)। इसलिये भावों की छानबीन का काम सामाजिक महत्व का है। कविता मनुष्य के भावों को प्रतिबिंबित करती है, इसलिये उसे भी मानव-जीवन की प्रवर्तक मानना होगा, उसे भी मनुष्य की सजीवता का कारण मानना होगा। योगवाला चित्तवृत्तियों का निरोध काव्य का मार्ग नही है। साहित्य में मनोविकार प्रकट ही नही किये जाते, उनका परिष्कार भी किया जाता है। यह साहित्य की सामाजिक उपयोगिता है। मनोविकारों का दमन करनेवालों को लक्ष्य करके शुक्लजी कहते हैं, "नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाखण्ड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर सान ही नही चढ़ाते बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त सम्बन्ध निर्वाह पर जोर देते हैं।" (करुणा)। कवि तीन काम करता है, मनोवेगों को तीव्र करता है, उन्हें परिमार्जित करता है और

प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।" काव्य को अबौद्धिक क्रिया मानने वालों को शुक्लजी का यह अकाट्य उत्तर है। ज्ञान और भावना का यह सम्बन्ध उसी सूत्र को लेकर चला है जिसके अनुसार "हृदय सिंधु मति सीप समाना" है और "बरवारि बिचारू" के बरसने पर ही "कवित मुक्ता मनि चारू" उत्पन्न होते हैं। साहित्य विचारशून्य, विचारों से तटस्थ, ज्ञान के प्रति उदासीन क्रिया नहीं है। श्रेष्ठ साहित्य सदा ज्ञान-प्रसार के भीतर भाव प्रसार के मार्ग पर चलाता है।

साहित्य के भाव-जगत् के एक छोर पर विचार और बौद्धिक चिंतन हैं तो दूसरे छोर पर इन्द्रियबोध और मूर्तिमत्ता है। साहित्य और शिल्प, स्थापत्य आदि की सामान्य भूमि यह गोचरता है। शुक्लजी ने कई जगह साहित्य को कला की संज्ञा न देने पर जोर दिया है। ऐसा उन्होंने उसे शुद्ध कलावाद से बचाने के लिये किया है। लेकिन शिल्प आदि कलाओं की सामान्य भूमि यह गोचरता है, गोचरता के आधार पर उनका सौन्दर्य है, सौन्दर्य के साथ मनुष्य की वासना का संस्कार और आनन्द है। इस कारण साहित्य को ललित कलाओं से एकदम अलग नहीं किया जा सकता, न साहित्य मीमांसा में सुन्दर शब्द खारिज किया जा सकता है।

ऊपर हमने देखा है कि बुद्धि अपने चिन्तन और मनन द्वारा जिन तथ्यों का निरूपण करती है, कल्पना उन्हीं को "गोचर और मार्मिक रूप में" सामने रखती है। जहाँ गोचर रूप होगा, वहाँ यह भी देखा जायगा कि यह रूप किस तरह सँवारा गया है, उसका आकार-प्रकार रंग आदि हमारे सौन्दर्यबोध के अनुकूल है या नहीं। पश्चिम के कुछ विचारकों ने साहित्य को गोचरता तक, इन्द्रियबोध और रूपरंग की सुन्दरता तक सीमित कर दिया है। इसी कारण शुक्लजी काव्य शास्त्र के बदले सौन्दर्य शास्त्र का प्रयोग गलत मानते हैं। उनका यह विरोध सही है। सौन्दर्य से इन्द्रियबोध का ही सौन्दर्य लेना गलत है। सौन्दर्य भावों और विचारों में भी होता है, मनुष्य के कर्मों में भी होता है। "कविता केवल वस्तुओं के ही रंग-रूप के सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के सौन्दर्य के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है।" (कविता क्या है)।

साहित्य या कला की गोचरता का सिद्धान्त शुक्लजी के ज्ञान-शास्त्र का ही परिणाम है। ज्ञान न तो आत्मा का प्रकाश है, न इलहाम होने से प्रकट हुआ है, न वह मनुष्य की सहज भावना (Intuition) का फल है। इस तरह के ज्ञान-शास्त्रों का विरोध करने के बाद शुक्लजी ने अपना वैज्ञानिक सिद्धान्त रखा है। वह सिद्धान्त यह है कि मनुष्य के बौद्धिक चिन्तन का विकास इन्द्रियज ज्ञान के आधार पर ही हुआ है। "आरम्भ में मनुष्य-जाति की चेतन-सत्ता इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही अधिकतर रही। पीछे, ज्जों-ज्यों सभ्यता बढ़ती गई है त्यों-त्यो मनुष्य की ज्ञान-सत्ता बुद्धि-व्यवसा-त्मक होती गई है।" (काव्य में अभिव्यंजनावाद)। ज्ञान की पहली सीढ़ी इन्द्रिबोध है। साहित्य इस सीढ़ी को पूरी तरह कभी नही छोड़ता। वैज्ञा-निक चिन्तन जहाँ बुद्धि व्यवसायात्मक है, वहाँ साहित्य इन्द्रिबोध का सहारा लिये रहता है। उसके कलात्मक सौन्दर्य का यह भी एक आधार होता है।

अपने इतिहास में शुक्लजी ने लिखा है, "प्रत्येक भाव का प्रथम अवयव विषयबोध ही होता है।" भाव के साथ प्रथम अवयव के रूप में विपयबोध मौजूद हो तो भावजगत् विषयबोध से अलग नही हो सकता। साहित्य की अनुभूति शुद्ध भावानुभूति नहीं हो सकती, उसके साथ इन्द्रियबोध भी जुड़ा रहेगा। विचार से भाव ज्यादा व्यापक होता है, भाव से इन्द्रियबोध। इस गोचर आधार के कारण साहित्य विज्ञान की अपेक्षा ज्यादा व्यापक और प्रभावशाली होता है। काव्य की विशेपता भावों को मूर्ति रूप देने में है। "जब तक भावों से सीधा और पुराना लगाव रखने वाले मूर्त और गोचर रूप न मिलेंगे तब तक काव्य का वास्तविक ढांचा खड़ा न हो सकेगा।" (कविता क्या है)।

कल्पना का आधार इन्द्रियबोध ही है। शुद्ध कल्पना नाम की कोई चीज नहीं है। पच्छिम के जिन विचारकों ने कल्पना का स्वतन्त्र अस्तित्व माना है, उसकी निराली सृष्टि की चर्चा की है, शुक्लजी के उनका खंडन किया है। उनका प्रत्यक्ष विरोध क्रोचे जैसे भाववादियों से है, अप्रत्यक्ष विरोध कोलरिज जैसे भाववादियों से भी है जिन्होने कल्पना को शाश्वत और निर-

पेक्ष चेतना का पर्याय मान लिया था और मनुष्य की व्यावहारिक कल्पना को उसी परम चेतना का अंश मान लिया था। योरप की कल्पनावादी साहित्य-मीमांसा के विपरीत शुक्लजी का मत यह है, "जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे, उसे उस भाव का आलंबन कहना चाहिये। ऐसे रसात्मक तथ्य आरंभ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं। फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उनकी योजना करती है।" (कविता क्या है)।

शुक्लजी के ज्ञान-शास्त्र में मनुष्य का मन बाह्य जगत् का ही प्रतिबिंब है। वह रूप-गति हीन नहीं है, रूपगति का ही संघात है। मानसिक प्रक्रिया की यह वस्तुवादी व्याख्या है। "जिस प्रकार यह जगत् रूपमय है और गतिमय है उसी प्रकार मन भी। मन भी रूप-गति का संघात ही है।" (कविता क्या है)। मन स्वयं रूपमय है, इसलिये ज्ञान भी रूपातीत नहीं होता। "हमें अपने मन का और अपनी सत्ता का बोध रूपात्मक ही होता है।" (उप०) जो चिन्तन और विचार अरूप लगते हैं, उनका आधार भी रूपमय जीवन ही है। मनुष्य अपनी सुविधा के लिये संकेतों से काम लेता है लेकिन हर संकेत इस रूपमय जगत् या उसके मानसिक प्रतिबिंब की ओर ही होता है। "भावों के अमूर्त विषयों की तह में भी मूर्त और गोचर रूप छिपे मिलेंगे।" (उप०) साहित्य की मूर्तिमत्ता का यह दार्शनिक आधार है।

इस ठोस दार्शनिक आधार पर ही शुक्ल जी ने साहित्य में रूपविधान की चर्चा की है। कल्पना क्या है? "मानसिक रूपविधान का नाम ही सम्भावना या कल्पना है।" (रसात्मक बोध के विविध रूप)। ऐडीसन के कल्पना-सम्बन्धी विवेचना के साथ चलते हुए शुक्लजी दो तरह का रूप विधान बतलाते हैं। एक तो 'प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओं का ज्यों का त्यों प्रतिबिम्ब होता है" दूसरा इनके "आधार पर खड़ा किया हुआ नया वस्तु-व्यापार-विधान" होता है। पहला रूपविधान स्मृति है, दूसरा कल्पना। ऐडीसन ने स्मृति को भी कल्पना का नाम दिया है। शुक्लजी ने वह स्थापना अमान्य ठहरा दी है। इसके सिवा "प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित

वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में रसानुभूति की कोटि में आ सकती है", यह स्थापना ऐडीसन के चिन्तन से बहुत दूर है। अनुभूति का अर्थ शुक्लजी के लिए "चाक्षुष ज्ञान" के अलावा शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श भी है। इस तरह रूपविधान का अर्थ इन्द्रियबोध का ही विधान समझना चाहिए।

रूपविधान में चाक्षुष ज्ञान मुख्य है। इसीलिए शास्त्र चर्चा की विशेषता अर्थग्रहण है तो साहित्य की विशेषता बिम्बग्रहण। (कविता क्या है)। साहित्य से प्रभावित होने की शक्ति उनमें होती है जिनमें मूर्तिविधान की क्षमता होती है। जो लोग साहित्य से प्रभावित नहीं होते, उसका एक कारण यह है कि "उनके अन्तःकरण में चटपट वह सजीव और स्पष्ट मूर्तिविधान नहीं होता जो भावों को परिचालित करता है।" (उप०)। कल्पना की आवश्यकता न केवल साहित्यकार के लिए है, उसके पाठक के लिए भी वह जरूरी है।

बौद्धिक चिन्तन, इन्द्रियबोध और भावन का समन्वय साहित्य की विशेषता है। इस विशेषता के मौलिक व्याख्याकार आचार्य शुक्ल हैं। यह व्याख्या पूर्व और पश्चिम दोनों के काव्यशास्त्र से ज्यादा सङ्गत और वैज्ञानिक है। यह हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र है।

इस शास्त्र के आधार पर उन्होंने क्रोचे आदि पश्चिम के विचारकों का खण्डन किया है। जो लोग हिन्दी के साहित्य-शास्त्र को अङ्गरेजी किताबों की नकल समझते हैं, वे हिन्दी अङ्गरेजी दोनों ही के साहित्य-शास्त्र का अपना अज्ञान प्रगट करते हैं। पश्चिमी साहित्य-शास्त्र के बारे में शुक्लजी का कहना है: "सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गई है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीरकर्म से पृथक वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक सौंदर्य कोई पथार्थ नहीं।" (कविता क्या है)। यह सब पढ़कर भी कोई कहे कि हिन्दी का काव्यशास्त्र अङ्गरेजी की नकल है तो उससे पूछना चाहिए कि दिमाग में अकल भी है या उसकी नकल ही रह

गई है।

शुक्लजी अङ्गरेजी आलोचकों में जिसके सबसे ज्यादा निकट हैं, वह ऐडीसन है। लॉक के वस्तुवाद से प्रभावित होकर ऐडीसन ने कल्पना का सिद्धान्त निकाला था और काव्य की विशेषता उसका रूपविधान बतलाया था। तब से योरोप की समीक्षा में मूर्तिमत्ता का खूब जोर रहा है। लेकिन हर तरह की कल्पना, हर तरह का रूपविधान तो कलात्मक नहीं होता। किस तरह की कल्पना काव्य के लिए आवश्यक है, इसका जवाब ऐडीसन के यहाँ नहीं है। कारण यह है कि उसके पास रस-सिद्धान्त नहीं था। कल्पना और रूपविधान को काव्य सौंदर्य का मूल आधार मानकर इस प्रश्न का उत्तर दिया ही नहीं जा सकता। इसका उत्तर तभी सम्भव है जब कल्पना का सम्बन्ध भावानुभूति से जोड़ा जाय। शुक्लजी ने यह सम्बन्ध जोड़ा है। उन्होंने रूपविधान और भावानुभूति का सम्बन्ध इस तरह जोड़ा है, "काव्य-विधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्तन और सचार करती हो। सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती। अत काव्य में हृदय की अनुभूति अङ्गी है, मूर्त्तरूप अङ्ग—भाव प्रधान है, कल्पना उसकी सहयोगिनी।" (काव्य में अभिव्यञ्जनावाद)।

ऐडीसन के यहाँ जिस समस्या का समाधान नहीं है, उसका यह दोटूक जवाब है। मूर्त रूप को प्रधान मानना काव्य की विषयवस्तु के मुकाबले में उसके रूप को मुख्य मानना है। पूँजीवादी विचारधारा पर इस रूपवाद का गहरा असर है। उससे शुक्लजी का अलगाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

क्रोचे के सौंदर्यशास्त्र का खण्डन करते हुए शुक्लजी ने योरोप के आत्म-वाद या आइडियलिज्म का भी खण्डन किया है। क्रोचे की विचारधारा बाह्य जगत् की वास्तविकता को अस्वीकार करती है। इसके बदले अपने उलझे तर्कजाल से वह बर्कले के दर्शन या मध्यकालीन अन्धविश्वासों की ही प्रतिष्ठा कर सकता है। शुक्लजी ने उसके प्रतिक्रियावाद की जड़ पर ही आघात किया है। क्रोचे की मूल स्थापना क्या है? "उसने कला की अभि-

व्यंजना के इस व्यवसाय को बाह्य प्रकृति और अन्तःप्रकृति दोनों से परे जो आत्मा है, उसकी अपनी निज की क्रिया क्या है—इस जगत् और जीवन से स्वतन्त्र।" यह बात किसी न किसी रूप में भारत के अध्यात्मवादी भी दोहराते हैं, इसमें सन्देह नहीं। शुक्लजी ने इसी का खण्डन किया है। क्रोचे जिन्हें आत्मा के कारखाने से निकला हुआ माल समझता है, उसे वह इस व्यवहार जगत् का ही प्रतिबिम्ब साबित करते हैं। स्वयं शुक्लजी भी जहाँ अपवादरूप से आत्मवादी विचारधारा की ओर झुक जाते है, वहाँ क्रोचे की उपर्युक्त धारणा से मिलती जुलती बात ही कहते हैं। जैसे यह उक्ति, "परस्पर साहाय्य के जो व्यापक उद्देश्य हैं उनका धारण करने वाला मनुष्य का छोटा सा अन्तःकरण नहीं, विश्वात्मा है।" (करुणा)। मानव मात्र के हृदय को विश्वात्मा कहा जाय तो बात दूसरी है लेकिन शुक्लजी का वह अर्थ नहीं है। उन्होंने अन्यत्र भी लिखा है कि काव्य का लक्ष्य यह है कि "मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकालकर उसे विश्वव्यापिनी और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करे।" (काव्य में अभिव्यंजनावाद)। लेकिन मनुष्य की अनुभूति विकासमान है। इन्द्रियज ज्ञान से मनुष्य बुद्धि-व्यवसायी ज्ञान की ओर बढ़ता आया है, पूर्वजों के संस्कारो में नये संस्कार जोड़ता आया है, यह शुक्लजी सिद्ध कर चुके हैं। इसलिए देशकालबद्ध मानव से परे कोई त्रिकालवर्तिनी अनुभूति नहीं है।

इस तरह की उक्तियाँ अपवाद हैं। शुक्लजी जब हृदय की मुक्त दशा की बात करते हैं तब उसकी व्याख्या करके स्पष्ट कर देते हैं कि उनका आशय लोक-हृदय में लीन होने की दशा से है।

शुक्लजी की आलोचना बड़ी गम्भीर है, यह बात अक्सर दोहराई जाती है। इस प्रशंसा में अज्ञान भी छिपा रहता है। जो बात समझने में बुद्धि पर ज्यादा जोर पड़े, उसे गम्भीर कहकर जल्दी पीछा छूट जाता है। दूसरी तरह का अज्ञान शुक्लजी को देखकर मुँह मटकाने में प्रकट होता है। ब्राह्मणवादी हैं, एकाङ्गी समाजशास्त्री हैं, आउट आफ डेट हैं, कुछ अङ्गरेजी चीजों का अनुवाद किया है, मध्यवर्ग के संस्कारों से पीड़ित हैं

आदि बातें इसी तरह का अज्ञान प्रकट करती हैं।

शुक्लजी की आलोचना गम्भीर है, इसलिए उसका आधार वस्तुवादी दृष्टिकोण है। वह संसार के उन इने गिने आलोचकों में हैं जिन्होंने मुक्त कण्ठ से इस भौतिक जगत्, मनुष्य के व्यवहार जगत् को सत्य स्वीकार किया है। शुक्लजी ने लिखा है, "संसार का अर्थ आजकल योरप और अमेरिका लिया जाता है।" जब संसार में भारत की भी गिनती होने लगेगी, यानी कुछ बुद्धिजीवियों का दिमाग पश्चिम की गुलामी से मुक्त होगा, वहाँ की प्रगतिशील विचारधारा पहचानकर उससे शुक्लजी की तुलना करेगा, तब वह उनका महत्त्व पहचानेगा, उससे पहले नहीं।

शुक्लजी की गम्भीरता का दूसरा कारण उनकी तर्क और चिन्तन-पद्धति है। इस पद्धति को हम द्वंद्व नाम दें तो अनुचित न होगा। विरोधी लगने वाली वस्तुओं का सामंजस्य पहचानना, उन्हें गतिशील और विकासमान देखना, संसार के विभिन्न भौतिक और मानसिक व्यापारों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करके उनका अध्ययन करना इस पद्धति की विशेषताएँ हैं। भारतीय दार्शनिकों और तार्किकों की लम्बी परम्परा में भी शुक्लजी अपनी इस चिन्तन पद्धति के कारण एक श्रेष्ठ विचारक ठहरते हैं।

विरोधी तत्वों की एकता देखने के कारण शुक्लजी ही लिख सकते थे, "यदि राम हमारे काम के हैं तो रावण भी हमारे काम का है।" (श्रद्धा-भक्ति)। कारण यह है कि एक में प्रवृत्ति का क्रम है तो दूसरे में निवृत्ति का। साहित्य के लिए दोनों का संयोग आवश्यक है। "जीवन में इस निवृत्ति और प्रवृत्ति का प्रभाव साथ साथ चलता है।" (उप०)। इस पद्धति से उन्होंने निर्माण के साथ ध्वंस को भी आवश्यकता बतलाया है, माधुर्य के साथ भीषणता में भी सौंदर्य देखा है। इसी पद्धति से रूपविधान और भाव का सम्बन्ध, इन्द्रिबोध और विचार का सम्बन्ध, साहित्य में सामान्य और विशेष का सम्बन्ध समझ में आता है। इसी तरह साहित्य में विभिन्न अर्थों का समन्वय होता है। अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन विज्ञान है, आप्तोलब्ध का इतिहास और कल्पित अर्थ का काव्य है। "पर भाव या चमत्कार में समन्वित होकर ये तीनों प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं और होते

हैं।" (काव्य में अभिव्यंजनावाद)। इसी तरह काव्य में विभाव प्रधान वस्तु है; उसी से भाव व्यंजना होती है। "भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति नहीं हो सकती।" (साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद)। काव्य में साधारण और असाधारण का सम्बन्ध इसी पद्धति से समझा जा सकता है। "साधारण के बीच में ही असाधारण की प्रकृति अभिव्यक्त हो सकती है।" (काव्य में प्राकृतिक दृश्य)। इस तरह के वाक्य अचानक पाठक को चमत्कृत कर देते हैं। उनमें जीवन और साहित्य के सत्य की झलक रहती है, यही उनके अनूठेपन का कारण है।

शुक्लजी ने तो ऑस्कर वाइल्ड जैसे कुछ लेखकों की तरह आलङ्कारिक शैली मात्र के विरोधाभास खड़े किये हैं, न उन्होंने कुछ भारतीय समन्वय-वादियों की तरह वास्तविक विरोध पर पर्दा डालकर नकली एकता कायम कर दी है। वह विरोधी लगने वाले तत्वों की जो एकता दिखलाते हैं, वह वास्तविक होती है, उसका आधार मनुष्य का व्यवहार जगत् होता है, कल्पना नहीं।

शुक्लजी ने अपने इतिहास में लिखा है, "संसार की हर एक बात और सब बातों से सम्बद्ध है।" इसकी बहुत अच्छी मिसाल वह विवेचन है जहाँ शुक्लजी ने विदेश के सामाजिक आन्दोलनों से भारत का सम्बन्ध जोड़ा है। इस पद्धति के कारण वह क्रोचे आदि विचारकों और अङ्गरेजी के इलियट आदि कवियों के हानिकर प्रभाव से हिन्दी लेखकों और पाठकों को सावधान कर सके।

वह वस्तुओं और विचारों को गतिशील और विकासमान किस तरह देखते हैं इसकी मिसाल मनुष्य की देव-सम्बन्धी धारणा, उसकी भावना और चिन्तन के विकास तथा संस्कारो के अर्जन का विवेचन है। उन्होने अनेक रसवादियों या कल्पनावादियों की तरह मनुष्य के भाव-जगत् को अपरिवर्तन-शील नही माना। इसीलिये विकास-क्रम में कौन से तत्व पतनशील हैं, कौन से प्रगतिशील, इसका भेद वह दिखा सके। उन्होने संस्कृत, फारसी, हिन्दी, उर्दू के दरबारी साहित्य का लगातार और डटकर विरोध किया। उन्होंने हिन्दी साहित्य में संस्कृत साहित्य के पतनशील रुझान छोड़ने को कहा, उसके

प्रगतिशील रुझान अपनाने की सलाह दी। उन्होंने लिखा है, "हिन्दी की कविता का उत्थान उस समय हुआ जब संस्कृत-काव्य लक्ष्यच्युत हो चुका था।" (काव्य में प्राकृतिक दृश्य)। यहाँ एक ओर तो उन्होंने संस्कृत साहित्य से हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध देखा है। द्वंद्व-पद्धति की यह एक विशेषता है। साथ ही उन्होंने संस्कृत साहित्य को गतिशील देखा है, उसके पतनशील रूप से सावधान किया है। द्वंद्व-पद्धति की यह दूसरी विशेषता हुई।

शुक्लजी की गम्भीरता का तीसरा कारण उनका सामाजिक दृष्टिकोण है। वह हिन्दी के मानववादी, सामन्त-विरोधी और देशभक्त लेखक हैं। उन्हें जनसाधारण से प्रेम है। इसलिये वह साधारण में ही असाधारण की स्थिति देख सकते हैं। उन्हें अपने देश की संस्कृति से प्रेम है, इसलिये वह पश्चिम के घटिया सिद्धान्तों की नकल बर्दाश्त नहीं कर सकते। इस दिशा में कहीं कहीं उनका विवेचन गलत हो गया है, कहीं-कहीं तुलसी को महान् सिद्ध करने की धुन में वह साहित्य का सम्बन्ध धर्म से जोड़ने लग गये हैं, यह सही है। लेकिन यह उनकी मूल विचारधारा नहीं है। सच्चे हिन्दूवादी और इस्लामवादी की पहचान यह है कि वह साम्राज्यवाद और सामन्तवाद का समर्थक होता है। शुक्लजी साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के निर्मम आलोचक हैं। उन्होंने पैसे पर टिके हुए मानव-सम्बन्धों की, पूँजीवादी सभ्यता की कड़ी आलोचना की है, योरप के उपनिवेशवादियों का सच्चा रूप प्रकट किया है, कविता को उद्दीपन का व्यापार बनानेवालों और धार्मिक पाखण्ड से जनता को ठगने वालों की तीखी नुक्ताचीनी की है। शुक्लजी का काव्य-शास्त्र जैसे दार्शनिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण है, वैसे ही उनका साहित्यालोचन सामाजिक क्षेत्र में है।

मनुष्य उनके लिये देशबद्ध प्राणी है जिसके हृदय में देशप्रेम नहीं, उसका मानवतावाद झूठा है। काव्य में प्रकृति-चित्रण की माँग करते हुए न तो उन्होंने प्रकृति को आध्यात्मिक सत्य का संदेशवाहक बनाया है, न उसकी रूपपूजा को महत्वपूर्ण माना है। प्रकृति-चित्रण की आवश्यकता उससे मनुष्य के साहचर्य से पैदा होती है। और मनुष्य का सबसे ज्यादा सम्बन्ध उसके अपने देश से होता है। "इसी देशबद्ध मनुष्यत्व के अनुभव से सच्ची

देशभक्ति या देशप्रेम की स्थापना होती है। जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता, वह देशप्रेम का दावा नहीं कर सकता।" (काव्य में प्राकृतिक दृश्य)। शुक्लजी नहीं चाहते कि जैसे "एक अमेरिकन फारसवालों को उनके देश का सारा हिसाब-किताब समझाकर चला गया", वैसे ही भारत के लोग भी अमेरिकनों से देशप्रेम करना सीखें और "विलायती बोली में 'अर्थशास्त्र' की दुहाई" दिया करें। शुक्लजी की देशभक्ति तमाम हिन्दी पाठकों और साहित्यकारों को अपनी स्वाधीनता की रक्षा करना सिखलाती है। इस स्वाधीनता को आज खास खतरा उन्हीं से है जो फारस वालों को देश का हिसाब-किताब समझा कर चले नहीं आये, वरन् वहाँ युद्ध का अड्डा बना रहे हैं।

दृढ़ता, आत्मविश्वास और निर्भीकता शुक्लजी के विशेष गुण हैं। लाख विरोधी प्रचार हो, वह अपने सिद्धान्तों पर अडिग रहे। रहस्यवाद की भारत-व्यापी धूम होने पर उन्होंने उसका विरोध करना नहीं छोड़ा। भारतीय अध्यात्मवाद की विश्व में डुग्गी पिटने पर भी उन्होंने वास्तविक जगत् का सूत्र नहीं छोड़ा, इस जगत् के चित्रण को भारतीय साहित्य की मूल विशेषता बतलाया और अध्यात्म शब्द को साहित्य के मैदान से बाहर निकाल देने को कहा। अंग्रेजी और संस्कृत की धाक की पर्वाह न करके उन्होंने इन भाषाओं में जो कमजोरियाँ दिखीं; उनका भी खुलकर विवेचन किया। इन सब कामों के लिये उन्हें बल मिलता था, हिन्दी जनता से, हिन्दी के तरुण विद्यार्थियों से, उच्चवर्गों की अवज्ञा और अपमान से, वाल्मीकि, भवभूति और तुलसी की परम्परा से, संसार की बढ़ती हुई स्वाधीनता-प्रेमी मानवता से, और अपने विशाल हृदय से।

शुक्लजी सहृदय आलोचक हैं। तर्कशास्त्री से अधिक वह भावुक साहित्य प्रेमी हैं। उनकी तर्क-योजना में चूक हो सकती है, सहृदयता में नहीं। उनमें भारतेन्दु-युग की जिंदादिली है, उस युग के लेखकों जैसा व्यंग्य-विनोद है। व्यंग्य हमेशा विनोद के लिये नहीं होता। कहीं-कहीं उनका व्यंग्य क्रोधाग्नि में तपे हुए तीर की तरह होता है। लोभियों के लिये कहते हैं, "न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया।" ऐसा तीखा

व्यग्य या तो प्रेमचन्द मे मिलता है या निराला मे। ऐसे तीर जब तब ही निकालते हैं। उनका विनोद साधारणत मनोरजन और उल्लास के लिये होता है। "एक सभा के सहायक मन्त्री हैं जो कार्य-विवरण पढने मे सकोच करते हैं। साराश यह है कि एक वेवकूफी करने मे लोग सकोच नहीं करते और सब बातों में करते हैं।" (लज्जा और ग्लानि) केशव, मिश्रबन्धु आदि उनके व्यग्य-विनोद का लक्ष्य किस तरह बने हैं यह हम पहले देख चुके हैं।

शुक्लजी की शैली वैज्ञानिक विवेचन की शैली है। उसमे कलात्मक सौन्दर्य पैदा करने की कोशिश नहीं की गई। फिर भी यह शैली एकसी नहीं है। करुणा, क्रोध आदि वाले निबन्धों मे शैली का आनन्द कम है सूक्ष्म तर्क-योजना मे रस लेने वाले ही उन्हें पढकर प्रसन्न हो सकते हैं। जहां तहां आवेशपूर्ण वाक्य या आलकारिक शैली आ गई है वह मरुभूमि मे जलाशय की तरह। लेकिन "काव्य मे प्राकृतिक दृश्य।" "काव्य मे रहस्यवाद" आदि निबन्ध खूब प्रवाहपूर्ण हैं। इनमे एक सरस वक्ता की आवेशपूर्ण शैली का आनन्द मिलता है। शुक्लजी की आलोचना जब लड़ाकू रूप धारण करती है, तब उनकी शैली बहुत ही स्वाभाविक और मनोरजक होती है।

शुक्लजी की एक बहुत बड़ी विशेषता अत्यन्त सारगर्भित वाक्य रचने की क्षमता है। इस तरह के वाक्य अनायास उनके साधारण वाक्यप्रवाह मे आकर अपनी असाधारणता से पाठक को आकर्षित कर लेते हैं। इन वाक्यों मे जीवन के अनुभवों और सुदीर्घ चिन्तन का फल सचित होता है। "यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है।" "जिन्हे यह कहने में सकोच नहीं कि हम बड़े सकोची हैं, उनमें सकोच कहाँ?" "जो किसी के लिये नहीं जीते, उनका जीना न जीना बराबर है।" "राम का नाता सारे ससार से नाता जोड़ता है, तोड़ता नहीं।" इस तरह के सैकड़ों वाक्य उनकी रचनाओं मे बिखरे हुए हैं।

जहां-तहां वह भारतेन्दु-युग के लेखकों के रग मे शब्द-चमत्कार दिखाते हुए विनोद करते हैं। "लोभ और प्रीति" के सिलसिले मे "सन

की टकटकी टके की ओर लग गई" ; "लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गये।" या क्रोध की चर्चा में, "धज के साथ धर्म की ध्वजा लेकर चलने वाला धोखे में भी क्रोध को पाप का बाप ही कहेगा।"

शुक्लजी ने तत्सम शब्दों का प्रयोग काफी किया है लेकिन इधर के आलोचकों से कम। तद्भव रूपों का भी प्रयोग वह धड़ल्ले से करते हैं। जैसे इतिहास में : "वज्रयानी सिद्धों का लीला-क्षेत्र भारत का पूरबी भाग था। गोरख ने अपने पन्थ का प्रचार देश के पच्छिमी भागों में" किया। पूरब-पच्छिम जैसे रूप उनके यहाँ खूब हैं। उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने काफी और बिना झिझक के किया है। इतिहास में देव-बिहारी वाले विवाद का नतीजा बतलाते हुए लिखा है कि बहुत से लोग "इस तुलनात्मक समालोचना के मैदान में उतरने का शौक जाहिर करने लगे।" अंग्रेजी पढ़े-लिखों की हिन्दी में "जो दोष रहते थे, वे उनकी खातिर से दरगुजर कर दिये जाते थे।" बदरीनारायण चौधरी ने अपने दो नाटक "हाथ आजमाने के लिये लिखे थे।" किशोरीलाल गोस्वामी के लिये, "खैरियत यह हुई कि अपने सब उपन्यासों को आपने यह मंगनी का लिबास नहीं पहनाया।" इस तरह के और बहुत से वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं। उर्दू शब्दों के प्रयोग का तो कहना ही क्या। "अलबत" उनका वैसे ही प्रिय शब्द है जैसे "नाना"!

किसी लेखक का कृतित्व ही उसका सच्चा व्यक्तित्व है। शुक्लजी के कृतित्व का अब तक जो विवेचन हुआ है, उसीको उनके मेधावी व्यक्तित्व का विवेचन समझना चाहिये। इसके सिवा कुछ उनकी व्यक्तिगत बातें हैं जिनसे पाठकों को दिलचस्पी हो सकती है। उनके इतिहास में जहां-तहां दो चार बातें इस तरह की मिलती हैं। शुक्लजी भारतेन्दु-युग के अनेक लेखकों से अच्छी तरह परिचित थे। बालकृष्ण भट्ट से उन्होंने अनेक बार सुना था, "न जाने कैसे लोग बड़े-बड़े लेख लिख डालते हैं।" एक बार वह शुक्लजी के घर आये थे और इनके भाई की आँख आई देखकर बोले थे, "भैया! यह आँख बड़ी बला है; इसका आना, जाना, उठना,

बैठना सब बुरा है।" बदरीनारायण चौधरी शुक्लजी पर विशेष कृपा रखते थे। कांग्रेस में दो दल होने पर उन्होंने शुक्लजी से एक नोट लिखने को कहा था। उसका एक वाक्य बदलकर उन्होंने यों लिखने का आग्रह किया था, "दोनों दलों की दलादली में दलपति का विचार भी दलदल में फँसा रहा।" शुक्लजी ने ठीक यही शैली तो नहीं अपनाई, लेकिन कभी कभी मनोरंजन के लिये उससे मिलती-जुलती अनुप्रास शैली का प्रयोग उन्होंने जरूर किया है। जैसे सत्यनारायण कविरत्न के लिये लिखा है, "वे ये ब्रजमाधुरी में पगे जीव, उनकी पत्नी थीं आर्यसमाज के तीखेपन में तली महिला।"

बदरीनारायण चौधरी से उन्होंने भारतेन्दु के बारे में बहुत सी बातें सुनी होंगी। आनन्दकादम्बिनी पर भारतेन्दु ने जो राय दी थी, उसे शुक्लजी ने इतिहास में उद्धृत किया है। (पृ० ५६०)। प्रसाद जी से उन्होंने कई बार ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के लिये कहा था, इसका जिक्र भी उन्होंने किया है। इस तरह के उल्लेख आलोचना में संस्मरणों का महत्व जोड़ देते हैं। शुक्लजी इतिहास लिख रहे थे, संस्मरण नहीं, इसलिये उन्होंने आवश्यक होने पर ही ऐसी बातों की चर्चा की है।

अपने बारे में उन्होंने कम लिखा है, फिर भी उनकी रचनाओं में जहाँ-तहाँ व्यक्तिगत बातों का उल्लेख हुआ है, उनसे पुस्तक-सेवी विद्वान् के बदले एक घुमक्कड़ और विनोदी व्यक्तित्व की तस्वीर बनती है। "मैंने पहाड़ों और जंगलों में घूमते समय" साधुओं को प्रकृति पर मुग्ध होते देखा था। साधु मुग्ध हुए हों, चाहे न हुए हों, शुक्लजी ने जंगलों-पहाड़ों में घूम कर प्रकृति का बहुत निकट से परिचय पाया था, इसमें सन्देह नहीं। "एक दिन रात को मैं सारनाथ से लौटता हुआ" काशी की गली में प्राचीन उज्जयिनी का भ्रम कर चुका था। यह भ्रम टूटा म्युनिसिपैलिटी की लालटेन से! काशी की गलियों में उन्होंने ठठेरों को मायावाद समझाकर गाहक से दूना दाम वसूल करते देखा था। साँची का स्तूप देखते हुए महुओं की सुगन्ध पर वह झूम उठे थे और उस लखनवी दोस्त से खीझ उठे थे जिसे डर था कि महुए का नाम लेने से "लोग देहाती समझेंगे।" उन्होंने चूल्हा

फूंकते हुए ब्राह्मण देवता को उसमें पानी डालते देखकर रसात्मक अनुभूति की थी, सीताराम और करेला कहकर बूढ़ों को चिढ़ाने वाले लड़कों की भीड़ से भी आनन्द लिया था। इसका कारण शुक्लजी का मानवप्रेम, उनकी विनोद-प्रियता और जिंदादिली थी। लड़कों के सिवा बूढ़े रसिकों से भी यह पद सुनकर उन्होंने याद कर लिया था, "कवि सेवक बूढ़े भए तौ कहा पै हनोज है मौज मनोज ही की"!

शुक्लजी में कुछ बातें डाक्टर जॉनसन की सी हैं। दोनों ही लेखक सहज बुद्धि (कॉमन सेन्स) की जमीन नहीं छोड़ना चाहते। शुक्लजी यथार्थ-वाद की कसौटी पर कभी-कभी साहित्य को इस तरह परखते हैं कि अद्-भुत रस की सृष्टि हो जाती है। प्रकृति को अबलामय देखनेवाले कवियों को लक्ष्य करके आचार्य कहते हैं, "आजकल तो स्त्री-कवियों की कमी नहीं है। उन्हें अब पुरुष-कवियों का दीन अनुकरण न कर अपनी रचनाओं में क्षितिज पर उठती हुई मेघमाला को दाढ़ी-मूछ के रूप में देखना चाहिये।" जायसी की भूमिका में "काजर दे नहिं एरी सुहागिनि! आंगुरि तेरी कटैगी कटाछन" इस पंक्ति पर शुक्लजी की टिप्पणी है, "यदि कटाक्ष से उँगली कटने का डर है, तब तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिये छुरी, हँसिया आदि की कोई जरूरत न होनी चाहिए।"

शुक्लजी ने अपने निबंधों द्वारा हिन्दी के काव्य-शास्त्र को एक नया मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक आधार दिया। इस आधार पर उन्होंने साहित्य की प्रगति-विरोधी धाराओं का खंडन किया और संस्कृत-हिन्दी की प्रगति-शील परम्परा का समर्थन किया। उनकी शैली तार्किक विवेचन के लिये उपयुक्त होने के साथ आवश्यकतानुसार आवेशपूर्ण और आलंकारिक भी है और उसकी एक विशेषता जीवन का संचित अनुभव प्रकट करने वाली वाक्यावली है। शब्द-चयन में उर्दू के प्रचलित शब्दों से उन्हें परहेज नहीं है। उनका व्यक्तित्व एक सहृदय और विनोदी, साहित्य-प्रेमी और संसार-प्रेमी मनुष्य का है, पुस्तकसेवी संन्यासी का नहीं। उनकी निर्भीकता, दृढ़ता गहन अध्यवसाय और आत्मविश्वास के गुण, उनके काव्यसिद्धान्तों और साहित्यालोचन की ही तरह हिन्दीप्रेमियों के लिये शिक्षाप्रद और प्रेरणा-दायक हैं।